UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63)

ISSN 0973-1490

वर्ष-22-1

अंक : जुलाई-सितम्बर, 2024

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 22-1 अंक : जुलाई-सितम्बर, 2024

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

सम्पादक

डॉ. शिवनारायण

▼

परामर्शी मंडल

श्री पी.सी. हलधर (पूर्व आई.पी.एस.)
अध्यक्ष, आस्था भारती, दिल्ली

प्रो. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. देवशंकर नवीन
प्रोफेसर, हिन्दी, जे.एन.यू., दिल्ली

प्रो. चिदि अन्नपूर्णा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

आस्था भारती
दिल्ली–110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
मकान नं. 167, सेक्टर 15-ए
नोएडा-201301
ई मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य 5
डॉ. नीरू झा को गुस्सा क्यों आता है?
डॉ. शिवनारायण

साहित्य–चिंतन

1. हिन्दी साहित्य में विमर्शों का महत्व 9
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
2. कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' का मनोसामाजिक महत्व 17
डॉ. शरद सिंह
3. समकालीन उपन्यासों में नवशहरीकरण 25
डॉ. रीता सिन्हा
4. शिवमूर्ति की कहानी 'केशर कस्तूरी' में यथार्थवाद 32
कृष्ण देव
5. सामाजिक चेतना और प्रखर व्यंग्य के कहानीकार : हरिशंकर परसाई 37
अनुपमा कुमारी
6. राष्ट्रीयता की प्रतिमूर्ति सुभद्रा कुमारी चौहान 42
डॉ. राकेश रंजन
7. नुक्कड़ नाटक भ्रांतियां और विरोधी मान्यताएं 46
डॉ. अदनान बिस्मिल्लाह

अस्मिता चिंतन

7. मृदुला गर्ग एवं अन्य समकालीन लेखिकाओं के उपन्यास 52
सोनी कुमारी
8. दिव्यांग विमर्श का आलोकवृत और कवि जायसी का रचनालोक 58
आशुतोष कुमार

दलित चिंतन

9. अंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धातों का विश्लेषण 66
शशिकांत कुमार

10. समकालीन दलित कहानी और जाति का प्रश्न 74
ज्ञान प्रकाश
11. जाति का बदलता स्वरूप और रामधारी सिंह दिवाकर की कहानियाँ 86
सोनल
12. हिन्दी दलित कहानियों में सामाजिक जीवन 92
डॉ. रामप्रवेश रजक

इतिहास चिंतन

13. गुप्तकाल में वर्षा का अनुमान एवं भविष्यवाणी 98
वरुण कुमार वशिष्ठ/चन्द्रशेखर पाल
14. भारतीय संस्कृति के आयाम : मध्य एशिया और सुदूर पूर्व 104
संतोष कुमार गुप्ता

विविधा चिंतन

15. भारत की प्रारंभिक चिकित्सा शिक्षा का स्वरूप 112
अरुण कुमार
16. हिन्दी कहानियों में मानवाधिकार 119
ज्योति गौतम
17. घरेलू हिंसा : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन 123
सुबोध कुमार/रानू शर्मा
18. भारत में युवाओं पर टेलीविजन विज्ञापनों का प्रभाव 129
रीता कुमारी
19. पालन–पोषण शैली और शैक्षिक उपलब्धियाँ 139
ज्योति किंडो

बौद्ध चिंतन

20. बौद्ध संघ में भिक्षु जीवन 147
डॉ. पल्लवी चौधरी

■

डॉ.नीरू झा को

गुस्सा क्यों आता है?

डॉ० शिवनारायण

बारहवें तल्ले पर स्थित नीरू के फ्लैट में जब मैं पहुँचा, तब वह अपनी बेटी पर बुरी तरह बरस रही थी। उसका पूरा बदन काँप रहा था। शायद बेटी को समझा नहीं पा रही थी, इसलिए झल्लाहट में अतार्किक कथनों से उसे नियंत्रित करना चाहती थी। मुझे देखकर उसने अपने को संयत करना चाहा, किंतु शब्द उनके साथ नहीं थे। मुझे ड्राईंग रूम में बैठने को कहकर अंदर चली गईं। बाई घबरा रही थी कि मेरे डोरबेल बजाने की आवाज पर बिना मालकिन से पूछे मुझे अंदर क्यों आने दिया! वह हड़बड़ी में किचन की तरफ भागी। थोड़ी ही देर में नीरू मेरे सामने अत्यंत अनुशासित लहजे में आवभगत को हाजिर थी, जैसे थोड़ी देर पहले कुछ हुआ ही न हो! परस्पर नमस्कार के बाद जब मैंने यों ही सहज भाव में पूछा, 'बेटी बड़ी हो रही है, फिर भी तुम उसे डाँट क्यों रही थी?' वह जैसे एकदम से पिघलने लगी, 'यही तो मेरा दुःख है! कायदे से कुछ खाती–पीती नहीं...कहती है अधिक खाने से मोटी हो जाएगी, मेरा फिगर खराब हो जाएगा...जब देखो, चेहरे पर जाने कौन–कौन से क्रीम पोतती रहती है! सुंदर दिखने की धुन में डाइटिंग करती है। दूध–फल कुछ लेगी नहीं और डाइटिंग से सुंदर दिखने का पागलपन करती है। ऐसा कहीं होता है क्या!' नीरू बड़बड़ाने लगी थी।

डॉ. नीरू झा अपने शहर में जानी–मानी गायनोकोलॉजिस्ट है। उसके पति भी प्रसिद्ध हृदयरोग चिकित्सक हैं। उन्हें दो बेटियाँ हैं। सुशील एवं समझदार। पढ़ाई में हमेशा अव्वल रहीं। दोनों बेटियों में सुंदर दिखने की स्वाभाविक चाहत है। उसकी इस चाहत को बाजार के विज्ञापनों ने और अधिक समृद्ध किया। सुंदर दिखने के लिए सौंदर्य बाजार जो–जो टिप्स प्रचारित कर रहे, उन सबको लड़कियाँ आजमाना चाहती हैं। 'मिस कॉलेज' से लेकर 'मिस इंडिया' और 'मिस यूनिवर्स' की प्रतियोगिताओं में फतह हासिल करने के लिए सुंदरता निखारने के जितने टिप्स बाजार द्वारा परोसे जाते हैं, उन्हें अंगीकार करने में लड़कियों में होड़ लगी हैं। वे जानती हैं कि इन्हीं रास्तों से चलकर दुनिया की तमाम सुख–सुविधाओं को अर्जित किया जा सकता है। केवल पढ़ाई से क्या होता है? असल चीज है ब्यूटी! मस्त कर देने वाली बॉडी फिगर! जो चीज सुंदर दिखेगी, वही बिकेगी!

बाकी का क्या मोल! घर में माता–पिता पुराने मूल्यों की दुहाई देते हैं..भारतीय संस्कृति और मूल्यों का रस पिलाते हैं! इन रसों को पीकर कोई सुंदर हो सकता है क्या? बाजार में सुंदरता निखारने के तो एक–से–एक रस हैं!

डॉ. नीरू झा अक्सर बेटियों पर झल्लाती हैं। नीरू मेरे स्कूल–कॉलेज के दिनों की मित्र है। उसके पिता हाईस्कूल में विज्ञान के शिक्षक थे। मुझे याद है, जब मैं इंटर साइंस का छात्र था तो नीरू मेरे क्लास में इकलौती छात्रा थी। उसके झकाझक सफेद रंग और चित्ताकर्षक देहयष्टि को देखकर लगता जैसे वह किसी ब्रिटिश दंपत्ति की संतान हो। क्लास में जब उसका रौल नंबर पुकारा जाता, तो जाने कितने ही छात्र एक साथ 'यस सर' कह उठते और प्रोफेसर रजिस्टर से नजर हटाकर वर्ग के छात्रों को देखने लगते। नीरू हौले से मुस्कुरा देती। उसकी इसी मुस्कान पर तो वर्ग के सैकड़ों छात्र घायल रहते। उसकी वेशभूषा में कभी तड़क–भड़क नहीं दिखी और न ही ऐसा लगता कि वह सजने–धजने पर बहुत समय गँवाती है! पर देखने में वह इतनी सुंदर थी कि कॉलेज में हर जगह, पुस्तकों के पन्ने और यहाँ तक कि कैरम की गोटियों तक पर उसका नाम छाया रहता! पढ़ाई में अव्वल थी ही! उसका दिव्य सौंदर्य उसकी विनम्रता और मेधा में छलकता! पहली ही बार में वह मेडिकल के लिए सेलेक्ट हो गई! कॉलेज–शहर, सबका मान रखा उसने! उसने चित्त के आंतरिक सौंदर्य को निखारने पर अधिक ध्यान दिया। तब 'मिस यूनिवर्स' की चमक दुनिया में फैली न थी और न बाजार का शोर था। बाजार था भी तो उसमें स्त्री देह और उसकी सुंदरता को बेचने की होड़ न थी। तब लड़कियों की सुंदरता को बढ़ाने में उसके शील–संस्कार का ही योगदान रहता! लड़कियाँ पृथ्वी के किसी हिस्से में रहती हों, उसकी सुंदरता के मापन में देहयष्टि, उत्तेजक परिधान आदि पर बहुत ध्यान नहीं जाता।

समय बदला! पूँजी बाजार के बर्बर विस्तार ने विकसित मुल्कों के बाद विकासशील मुल्कों को अपनी गिरफ्त में लेना शुरू किया। भारत जैसे विकासशील मुल्कों के समाज का रंग तेजी से बदलने लगा। पूँजी साम्राज्य के विस्तार के दो प्रहरी हैंदृबाजार और मीडिया। इन दोनों प्रहरियों ने सौंदर्य बाजार को नए मान–मूल्यों से इतना आकर्षक बनाया कि देश की लड़कियों में मॉडल बनने की होड़ मच गई। मॉडल बनने के लिए सुंदरता की नई परिभाषा गढ़ी गई। अब रैप पर मॉडलों की जिंदगी चाहे जितनी छोटी होती हो, पर उन्हीं रास्तों से चलकर तो 'मिस इंडिया' या 'मिस यूनिवर्स' के सपने को साकार किया जा सकता है। लड़कियों के दिमाग में ये बातें भरी जाने लगी कि ईश्वर ने उसे कैसी देहयष्टि दी, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना यह कि देह को बाजार की चाहत के अनुकूल किस प्रकार अधिक–से–अधिक उत्तेजक–आकर्षक बनाया जा सकता है। मसलन मॉडलिंग की क्रूर शर्तों के मुताबिक लड़कियाँ अपने वक्षस्थल की सर्जरी कराकर उसे ऐसा उत्तेजक रूप देती हैं, जिसे बाजार खूबसूरत मानता है। कुल्हों को पुरुषों की चाहत के अनुरूप सजाती हैं। सुंदरता गोरापन में है और गोरा बनने के लिए तरह–तरह के क्रीम उपयोग में लाए जाते हैं; अब यह बात

पुरानी पड़ गई। ब्लीच कराने की बात भी अब नई नहीं रही। अब तो स्कीन ग्राफ्टिंग अर्थात नई त्वचा लगाने की नई तकनीक अपनाई जा रही है। सुंदर दिखने की चाहत किस हद तक देह को कृत्रिम बना देती है, इसे माइकेल जैक्सन या सन् 1994 में 'मिस यूनिवर्स' बनी अर्जेंटीना की सोलांगे मैगनाने को सामने रखकर समझा जा सकता है। इन दोनों का कारुणिक अंत भी दुनिया ने देखा।

लड़कियाँ सुंदर दिखने की मृगमरीचिका के पीछे भाग रही हैं। उसे कैसा दिखना है, उसका रंग कितना गोरा हो, उसे कैसे चलना, बातें करना है, कहाँ कितना किस तरह से मुस्कुराना है, ये सब उन्हें बाजार सिखाता है। मध्यवर्गीय घर–परिवार से मिलने वाले संस्कार उन्हें अपनी उड़ान में बाधक लगते हैं और इसीलिए वे उन्हें झटक देना चाहती हैं। आज बाजार और मीडिया भारतीय सुंदरता की जो अवधारणा परोस रही है, उसमें इस देश की विविधता की संस्कृति विलोपित है। विकसित मुल्कों विशेषकर यूरोप से निकलकर विश्व भर में छा गए ऐंग्लो सैक्सन लोग आज तय कर रहे हैं कि सुंदरता क्या होती है। अमेरिका–यूरोप से लेकर आस्ट्रेलिया तक में छाये इस नस्ल के लोग ही अपने–अपने सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में सुंदरता के मानदंड निर्धारित कर रहे हैं। इसी मानदंड के अनुसार बाजार उत्पादन करता है, जिसके पीछे विकासशील मुल्कों की लड़कियाँ दिवानी हैं। यूरोप–अमेरिका जैसे देशों की जलवायु भी शीतल है, जिससे वे अपने गोरे रंग को सुंदरता का पर्याय मानते हैं। भारत जैसी गर्म जलवायु वाले देश में, जहाँ त्वचा का रंग साँवला होना आम बात है, करोड़ों लड़कियों के मन में गोरी बनने की चाह इस तरह उत्पन्न कर दी जाती है, जैसे साँवली या काली होना उनके लिए अभिशाप है। फिल्मों या टी.वी. सीरियलों में हीरोइन का काला–साँवला दिखने का कोई विकल्प ही नहीं है। फिल्मों की हीरोइन तो लंबी–गोरी, सुडौल–छरहरी होती है। उसके होंठ मोटे नहीं हो सकते, उसकी नाक चिपटी नहीं होती। कमर, कुल्हे, सीने का एक खास अनुपात होना जरूरी है। लंबाई और वजन का भी संतुलित अनुपात आवश्यक है। भारत में एथनिक, क्षेत्रीय और सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता के अनुरूप सुंदरता के अलग–अलग मानदंड का बाजार के लिए कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए कुछेक अपवादों को छोड़कर द्रविड़ या आदिवासी लड़कियाँ कभी 'मिस यूनिवर्स' तो छोड़िए, 'मिस इंडिया' भी नहीं हो सकती हैं।

विकसित देशों द्वारा सुंदरता के मानदंड बनाए जाते हैं, जिसे बाजार और मीडिया जी–जान से स्थापित करता है। हम कल्पनाजीवी लोग हैं। कल्पना कीजिए, यदि यूरोप–अमेरिका के देश कभी अफ्रीका के गुलाम होते तो क्या आज सुंदरता के मानदंड वही होते, जैसा उन मुल्कों ने तय कर रखे हैं? क्या गोरा रंग सुंदरता का पर्याय होता? जाहिर है कि सदियों की औपनिवेशिक दासता ने भारतीय चेतना को इस कदर भूलुंठित कर रखा है कि अपनी विरासत की समृद्धि की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अपने नैसर्गिक सुंदर–बोध को हेय मान हम सुंदरता के कृत्रिम या आरोपित मानदंडों को अपनाने में दिवाने हुए जा रहे हैं।

महान अस्तित्ववादी दार्शनिक–चिंतक ज्याँ पाल सार्त्र की प्रेमिका सिमोन द बउवा ने कभी कहा था कि स्त्री कभी अपने को एक स्त्री की नजर से नहीं, पुरुष की नजर से देखती है। इसका मतलब यह हुआ कि सौंदर्यबोध का निर्धारक पुरुष है। वही तय करता है कि सुंदर दिखने में स्त्री की देह कैसी हो, उसकी टाँगें कैसी हों, वजन कितना हो, कुल्हे कैसे दिखें; इन सबका निर्धारक पुरुष है। उसी के आरोपित सुंदरता के मानदंड को अंगीकार करने में स्त्री अपना पूरा जीवन लगा देती है। आज पुरुष की भूमिका विकसित देशों के पूँजी साम्राज्य के सत्ता नियामक निभा रहे हैं। उसकी नजर में मनुष्य, मनुष्य नहीं, संसाधन मात्र हैं। उस संसाधन का उपयोग वह अपने पूँजी साम्राज्य के बर्बर विस्तार के लिए करना चाहता है। उसी शृंखला में स्त्री देह की सुंदरता का उपयोग करना भी शामिल है। आज मॉडलिंग लड़कियों को जितनी लुभावनी लगती है, पहले कभी नहीं लगती थी। मिस यूनिवर्स की दिनचर्या और उसके इस्तेमाल की तमाम चीजों के उपयोग में लड़कियों की दिवानगी आज जैसी पहले कभी नहीं थी। पहले समाज बाजार के पास जाता था और अपनी जरूरत की चीजों को उससे प्राप्त कर लेता था, लेकिन अब बाजार घर–घर टी.वी. आदि माध्यमों से पसरता चला जा रहा है। पहले अपनी जरूरतों के हिसाब से सामानों का क्रय होता था और अब बाजार ही हमें हमारी जरूरतें बताकर उसके क्रम को विवश करता है। बाजार हम पर हावी होता चला गया है, बल्कि कहना चाहिए कि हम उसके गुलाम होते चले गए हैं। नई पीढ़ी उसका क्रीत दास होता जा रहा है।

डॉ. नीरू झा की बेटियाँ सुंदर दिखने की होड़ में इस कदर दिवानी हैं कि उन्हें समझाने में उसका अपना रक्तचाप बढ़ता जा रहा है। किशोरवय में नीरू स्वयं अपूर्व सुंदरी थी। डाइटिंग करती थी न कृत्रिम सौंदर्य प्रसाधनों का जमकर उपयोग। घर–परिवार से प्राप्त सहज जीवनचर्या, प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग और व्यायाम के अभ्यास ने ही उसे अपूर्व सौंदर्य प्रदान किया था। ये सारी चीजें उनकी बेटियों को नहीं रुचतीं। वे डायटिंग करती हैं। प्रायः हर हफ्ते ब्यूटी पॉर्लर जाती हैं। उन्हें दूध–फलों से परहेज है और अपनी सुंदरता बढ़ाने के लिए ऐसे–ऐसे काम करती हैं, कि नीरू बेटियों पर बरबस बरस पड़ती हैं। बेटियों पर बरसती नीरू अब अकेली नहीं, करोड़ों में हैं। नीरू बेटियों को समझा नहीं पा रही कि चित्त का नैसर्गिक सौंदर्य ही देह की सुंदरता को बढ़ाने का स्त्रोत है! नीरू बेटियों में खुद को तलाशना चाहती हैं। पीढ़ियों के इस अंतराल को कौन भरेगा? विश्व बाजार की पूँजी संस्कृति और भारतीय जीवन–मूल्यों की संस्कृति के बीच सेतु का निर्माण कौन करेगा? बाजार का सौंदर्य आखिर कब तक नैसर्गिक सुंदरता को आहत करता रहेगा? वसुन्धरा में सुंदर क्या है, इसका निर्धारण किसे करना चाहए? पूरी पृथ्वी के अलग–अलग भू–भाग और अलग–अलग संस्कृतियों में भाँति–भाँति की भिन्नताओं के जीवन–दर्शन के मध्य सुंदरता का मान–मूल्य क्या हो, क्या इस पर नए सिरे से हमारे रचनाकारों को विचार नहीं करना चाहिए? आखिर डॉ. नीरू झा कब तक अपनी बेटियों पर बरसती रहेंगी?

■

हिन्दी साहित्य में विमर्शों का महत्व

प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'❖

'साहित्य समाज का दर्पण है' यह कथन तो साहित्य के संदर्भ में अनेक बार उद्घाटित किया जा चुका है, किन्तु क्या साहित्य समाज का दर्पण रहा है? क्या भारतीय समाज का पूरा प्रतिबिंब साहित्य में नजर आया है? क्या उसमें समाज के उपेक्षित वर्ग की पीड़ा का स्वर मौजूद है? क्या उसमें दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों से जुड़े प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया गया है? जवाब नकारात्मक है। इस दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दी साहित्य कभी भी समाज का दर्पण नहीं रहा। समाज का जो तबका पढ़ा–लिखा था उसी ने साहित्य रचा और उसने अपने समाज और संस्कृति को ही प्रचारित और प्रसारित किया।

समकालीन युग विमर्शों का युग है। इसे उत्तर–आधुनिकता का दौर भी कहा जाता है। इस दौर की विशेषता यही है कि इसमें जो समाज हाशिए पर रहे हैं वे चिंतन के केंद्र में आने लगे हैं, वे अपने अधिकार मांगने लगे हैं, शोषण की मार झेलते–झेलते वे अब जाग चुके हैं। प्रश्न उठता है, आखिर वे क्यों और कैसे जाग उठे ? क्या वे अनायास यूं ही जाग उठे या उन्हें किसी ने जाग्रत कर दिया ? डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी अनुसार, "सच यह है कि सोए हुए समूह शोषण की निर्मम मार के कारण जगे हैं।"[1] इस जागरूकता के कारण ही आज तमाम विमर्श उठ खड़े हुए हैं जिनमें मुख्य रूप से दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री–विमर्श, किन्नर विमर्श, विकलांग विमर्श आदि शामिल हैं। इन विमर्शों ने प्रस्थापित समाज व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगा कर उसे कटघरे में खड़ा कर दिया है।

विमर्श वाद–विवाद और संवाद का सेतु है। ज्ञान शब्दकोश में विमर्श शब्द का अर्थ कुछ इस प्रकार दिया है– "विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्क, ज्ञान"[2] है। वहीं भोलानाथ तिवारी ने लिखा है, "तबादला–ए–खयाल, परामर्श, मशविरा, राय–बात, विचार–विनिमय, विचार–विमर्श, सोच–विचार।"[3] विमर्श हाशिए पर धकेल दी गई सामाजिक अस्मिताओं का एक ऐसा मंच है जहां वे अपनी बात पूरे दम–खम से रखते हैं और अस्मिता विमर्श का सीधा जुड़ाव साहित्य की सत्ता से है। अर्चना वर्मा के अनुसार– "अस्मिता–विमर्श सत्ता के समीकरण और शक्ति के संतुलन में अपने हिस्से पर दावे की सैद्धांतिकी है।"[4]

❖ वरिष्ठ प्रोफेसर हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007,
ईमेल– sheorajsinghbechain@gmail.com

विमर्श के लिए दो या दो से अधिक पक्षों, विचारों या सामाजिक श्रेणियों का होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से विमर्श कोई एकालापी क्रिया नहीं है। लोकतंत्र में विचारों की विविधता का सम्मान किया जाता है। विचारों की विविधता ही ज्ञान व्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और यह सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता से ही आती है। विमर्श साहित्य को लोकतांत्रिक बनाते हैं। भारतीय साहित्य में विमर्शों ने एक अलग तरह का योगदान किया है, इससे पूरा साहित्य नई तरह से विकसित होना शुरू हुआ है। विमर्शों ने संविधान सम्मत समता, स्वतंत्रता और बंधुता की बात उठाई है और वैश्विक मानवाधिकार का पक्ष लिया है। इस प्रकार विमर्श चाहे किसी भी वर्ग से आया हो, वह अपने आप को पिछड़ा हुआ रखना पसंद नहीं करता, वह भी अपनी दृष्टि में बदलाव लाता है और समता, स्वतन्त्रता और बंधुता जैसे मूल्यों के अनुकूल रचनाकार काम करने लगता है। हम कह सकते हैं कि विमर्शों ने साहित्य को समृद्धि किया है और साहित्य को कुछ सार्थक प्रेरणा दी है।

यदि हम दलित विमर्श की पृष्ठभूमि की बात करें तो भारतीय साहित्य–इतिहास में दलित समस्या के चित्रण को लेकर जितना गंभीर और रचनात्मक चिंतन अब हो रहा है उतना पहले कभी नहीं हुआ। जितनी बेहतर स्थिति आज दलित समाज के बौद्धिक हिस्से की है उतनी बेहतर स्थिति पूर्व में कभी नहीं रही। हालांकि दलित समाज की अधिसंख्य आबादी अभी भी शोषित और उत्पीड़ित है। अशिक्षा, गरीबी, और भुखमरी आज भी उसका गला दबोचे हुए है। दलित–विमर्श, दलित समस्या को अभूतपूर्व ढंग से केंद्र में ले आया है, जो प्रश्न उपेक्षित था अब वह अपेक्षित हो गया है। 'दलित–विमर्श' के संदर्भ में आदिवासी विद्वान गंगा सहाय मीना ने लिखा है– "दलित विमर्श उस समाज–व्यवस्था के नकार से उपजी चेतना का नाम है, जिसमें जाति और वर्ण के आधार पर मनुष्य मात्र में अंतर किया जाता है।"[5]

'दलित–विमर्श' की ताकत है कि अब गैर–दलित विमर्शकार भी दलित–विमर्श में विशेष रुचि लेने लगे हैं और दलित साहित्यकार होने का दंभ भी भरने लगे हैं, यहीं से सहानुभूति और स्वानुभूति के प्रश्नों ने भी जोर पकड़ा, क्योंकि दलितों ने अब अपना साहित्य स्वयं रचने की कवायत की है और अपने साहित्य को दलित साहित्य कहा है। दलित साहित्य के गैर–दलित पाठक और समीक्षक बजरंग बिहारी तिवारी ने कहा है कि, "दलित साहित्यकारों ने विद्रोह और आक्रोश भरी रचनाओं के जरिए स्वतन्त्रता, समानता और न्याय का स्वर बुलंद किया तथा दलित समुदाय में आत्मगौरव का भाव भरने का अभियान चलाया है।"[6]

दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य की परिभाषा, अवधारणा और सौंदर्यशास्त्र को अपनी तरह से गढ़ने का भी प्रयास किया है। डॉ. शरण कुमार लिंबाले के अनुसार– "दलित लेखकों का यह मानना है कि उनके साहित्य की समीक्षा समाजशास्त्रीय दृष्टि से होनी चाहिए और समाजशास्त्रीय समीक्षा में सौंदर्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की चर्चा अधिक होना लाजमी है।"[7]

आज दलित साहित्य न केवल भारतीय भाषाओं में स्थापित हो चुका है अपितु अंतर्राष्ट्रीय पहचान भी बना चुका है। हिन्दी, मराठी, पंजाबी दलित साहित्य की कई स्तरीय कृतियाँ अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं में अनूदित हुई हैं और देशी–विदेशी भाषाओं विश्वविद्यालयों के साहित्यिक पाठ्यक्रमों में शामिल हुई हैं। यहाँ पर हमें विमर्शों की जरूरत को भी देखना होगा। हाशिए का जो भी विमर्श है, जिसमें दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श आते हैं आखिर इन तमाम विमर्शों की जरूरत क्यों पड़ी ? क्या मुख्यधारा का साहित्य इन विमर्शों को अपने साहित्य में स्थान नहीं दे रहा था ? आदि प्रश्नों को देखे तो दलित विमर्श में जो दलित शब्द है उसने 1990 से विशेष जोर पकड़ा था, लेकिन अपने अलग–अलग नामों से दलित विमर्श साहित्य में रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो जाति आधारित असमानता का विरोध बौद्ध–साहित्य, नाथ–सिद्ध और सरहपा साहित्य में भी दिखाई देता है। इसके उपरांत दलित विमर्श भक्तिकाल में भी दिखाई देता है। भक्ति काल में आप देखेंगे कि कबीर, रैदास, चोखा मेला, नंदनार आदि कवि आध्यात्मिक ढंग से ईश्वरीय समता भाव को लेकर विमर्श करते रहे हैं। जिनके द्वारा रचित काव्य को संत काव्य कहा जाता है, किन्तु संत काव्य में दलित विमर्श इस रूप में हैं कि सारे दलित कवि अस्पृश्यता के विरुद्ध बोल रहे हैं। इसके उपरांत ब्रिटिश काल में महात्मा ज्योतिवा फुले, डॉ. बी.आर. अंबेडकर, रामास्वामी पेरियार, महात्मा गांधी, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि सामाजिक चिंतकों ने अपने–अपने स्तर पर दलित विमर्श को उभारा। इन विद्वानों द्वारा किए गए चिंतन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा और दलितों के मुद्दों को यथार्थवादी कथाकार प्रेमचंद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जनवादी कवि बाबा नागार्जुन, आदि साहित्यकारों ने उठाना शुरू किया।

'दलित' शब्द आधुनिक युग की देन है परंतु इससे पूर्व इन जातियों को अनार्य, बहिष्कृत, अछूत और अस्पृश्य कहा जाता था। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सिद्धों और नाथों ने पुरोहितवाद और कर्मकांड का विरोध किया। भक्तिकाल में संत कवियों ने वर्ण–व्यवस्था का विरोध किया। वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज को नकार कर वे समतामूलक नए समाज की कल्पना करते हैं–

"जहवां से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पौन धरती अकसवा, चांद न सूर न रैन दिवसवा।।
बाम्हन छत्री न सूद बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा। धरती
आदि जोति नहिं गौर गनेसवा, ब्रहमा बिस्नु महेश न सेसवा।
जोगी न जगभ मुनि दुरबेसवा, आदि न अंत न काल कलेसवा।
दास कबीरा ले आए संदेसवा, सार सबद गहिं चलो बहिं देसवा।"[8]

संत रैदास ने भी जाति–व्यवस्था खंडन किया है–

"जात पाति के फेर माहि, उरझि रहो सब लोग,
मनुषता कूं खात हई, रविदास जात कर रोग।"[9]

इसके अतिरिक्त पीपा, नंदनार, चोखामेला, दादू, मलूक दास आदि कवियों ने भी अस्पृश्यता अमानवीय विकरालता को बखूबी दर्शाया है।

आधुनिक काल में विशेष कर 1914 में सरस्वती पत्रिका में 'हीरा डोम' की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित होती है। यह कविता अस्पृश्यता से उत्पन्न हुई क्रूरता को दर्शाती है। इसी काल में सक्रिय स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' ने 'हिंदू' अखबार चलाया था, जिसमें उन्होंने दलित समाज को स्वयं पर गर्व करना सिखाया।

हैं सभ्य सबसे, हिंद के प्राचीन हैं हकदार हम।
हां, बनाया शूद्र हमको थे कभी सरदार हम।।

दलितों की समस्या को हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के अलावा भी रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, चतुरसेन शास्त्री, रामदरश मिश्र, जगदीश चंद्र, मदन दीक्षित आदि गैर दलितों ने भी उठाया, किन्तु उनके द्वारा उठाई गई समस्या भोगी हुई समस्या नहीं थी अपितु सहानुभूति से उपजी मानवीय संवेदना के चलते उन्होने इस दिशा में लेखन किया। इस प्रकार दलित लेखन के बीज प्रेमचंद ने डाले या यूं कहें कि सामाजिक समस्याएँ साहित्य ढंग से उजागर कीं, किंतु वास्तविक रूप से जिसे दलित विमर्श कहा जाता है उसे वस्तुगत रूप से दलित लेखकों ने उठाया। हिन्दी साहित्य में विमर्शों की शुरुआत अस्सी के दशक से होना शुरू हुई। यह एक ऐसा दशक था जिसमें दलित समाज के लेखक उभर कर आए और उन्होंने अपनी पीड़ा को लिखना शुरू कर दिया। इससे पूर्व जो दलित विषयक साहित्य लिखा गया, वह गैर दलितों द्वारा दया व सहानुभूति आधारित लेखन रहा है। इसलिए जाति विरोध का जैसा तीखा स्वर दलितों के साहित्य में मिलता है वैसा गैर दलितों द्वारा लिखे साहित्य में नहीं मिलता। चूंकि वह एक तरह से आत्मालोचन का विषय बन जाता है। इनमें मुख्य रूप से मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, जय प्रकाश कर्दम, कंवल भारती, डॉ. धर्मवीर, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी मीनू, आदि का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि आवश्यक नहीं कि रचनाकार विमर्शकार भी हो।

यदि हम आदिवासी विमर्श की बात करें तो उसके केंद्र में आदिवासी जीवन है। आदिवासियों की धरोहर जल, जंगल और जमीन है। भूमंडलीकरण की नीतियाँ उनसे यही सब छीन रही हैं। सरकारों द्वारा लगातार प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा रहा है, जिससे आदिवासी समाज पिछड़ता जा रहा है और उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होती जा रही है, "सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जमीन और जंगलों से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए हैं।"[10]

आदिवासी विमर्श आदिवासी परंपरा, संस्कृति, रीति–रिवाज, भाषा, शिक्षा, नक्सलवाद की समस्या, विस्थापन आदि को रेखांकित करता है। "जो विचार धारा आदिवासी जीवन को उठाने, उनके जीवन–स्तर को समकालीन धारा में लाने के लिए प्रयत्नरत हैं, आदिवासी की वास्तविक जगह लोकतान्त्रिक समाज में दिलाने के लिए प्रतिबद्ध है, वही विचारधारा आदिवासी विमर्श है, आदिवासी

चिंतन है।"[11] आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य मात्रात्मक दृष्टि से अभी कम है। हालांकि आदिवासी जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए साहित्य की परंपरा के सूत्र आजादी से पूर्व भी मिल जाते हैं किन्तु उसमें गैर–आदिवासियों की भूमिका अधिक रही है। आदिवासी लेखकों में सुशीला सामद, दुलायचंद्र मुंडा, बलदेव मुंडा, राम दयाल मुंडा, जयपाल सिंग मुंडा, पीटर पॉल एक्का, हरिराम मीणा, गंगा सहाय मीणा, मंगल सिंह मुंडा, वाल्टर भेंगरा 'तरुण', वंदना टेटे, निर्मला पुतुल, जसिन्ता केरकेट्टा, अनुज लुगुन आदि का नाम उल्लेखनीय है। सुशीला सामद को पहली आदिवासी कवयित्री माना जाता है।

स्त्री विमर्श ने भी साहित्य में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। हंस जैसी पत्रिकाओं (संपादकीय राजेन्द्र यादव) ने दलित विमर्श से भी अधिक स्त्री–विमर्श को हवा दी। सदियों से पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की स्थिति दयनीय रही हैद। ऐसे अनेक देश हैं जहां स्त्रियों को मताधिकार के लिए भी संघर्ष करना पड़ा है। भारत में 'सती प्रथा' एवं विधवा पुनर्विवाह प्रतिबंध का दंश भी स्त्रियों को झेलना पड़ा है। इतना ही नहीं उन्हें शिक्षा से भी वंचित रहना पड़ा है। उन्हें बाल–विवाह, विधवा–विवाह, अनमेल–विवाह, बलात्कार, वेश्यवृत्ति, पर्दा–प्रथा, दहेज–प्रथा, अशिक्षा, घरेलू–हिंसा, लिंग–भेद आदि समस्याओं का सामना करना पड़ा है। स्त्री–पुरुष समानता के पक्षधर डॉ. अंबेडकर इस तथ्य से भली–भाँति परिचत थे। इसलिए उन्होंने संविधान में स्त्रियों को भी समान मताधिकार और 'हिन्दू कोड बिल' तैयार कर स्त्री समाज पर भारी उपकार किया। यद्यपि हमारे देश में स्त्री की स्थिति में सुधार हेतु अनेक अंदोलन भी हुए हैं किन्तु जैसी करुण दशा स्त्री की भारत में है वैसी अन्यत्र नहीं। अमृता प्रीतम के अनुसार– "मैंने लगभग सारे यूरोप में घूमकर देख है, कह सकती हूँ कि औरत की जैसी करुण दशा मैंने अपने देश में देखी है, वैसी ओर कहीं नहीं देखी है। अफ्रीका हालांकि आर्थिक और औद्योगिक तौर से बहुत पिछड़ा हुआ देश है, पर वहाँ की औरत में भी हमारे देश की औरत से कहीं अधिक आत्मविश्वास है।"[12]

साहित्य में लेखिकाओं ने पुरुष सत्ता के दुष्प्रभाव को महसूस किया। स्त्री की अलग पहचान की मांग उठी। स्त्री–मुक्ति और स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व, अधिकार और समान अवसरों का प्रश्न उठाया जाने लगा। तभी से स्त्री विमर्श की शुरुआत हुई। प्रभा खेतान के अनुसार– "आज स्त्री ने सदियों की खामोशी तोड़ी है। उसकी नियति में बदलाव आया है। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन–मिजाज सभी तो बदल रहा है।"[13] स्त्री–विमर्श के संदर्भ में हंस से जुड़ी रही आलोचक अर्चना वर्मा ने लिखा है कि, "एक ओर यह (स्त्री विमर्श) राजनीतिक, आर्थिक दासता के विरुद्ध लड़ते हुए समूचे समाज के एक सदस्य की हैसियत से संघर्ष में अपना योगदान था, तो दूसरी ओर समाज के भीतर अपनी दीन–हीन दशा के विरुद्ध शृंखला की कड़ियाँ तोड़ देने का आह्वान था।"[14] स्त्री विमर्श के प्रारंभ के संदर्भ में मतभेद हैं। कुछ लोग इसका प्रारंभ 19 वीं शताब्दी से मानते हैं जब पश्चिम में स्त्रियों के मताधिकार और उनके योगदान पर बात

आरंभ की। इस संदर्भ में वर्जीनिया वुल्फ की पुस्तक 'ए रूम ऑफ वंस ओन' (1929) उल्लेखनीय है। यह स्त्री विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण पुस्तक है। किंतु सही मायने में इसकी शुरुआत 20 वीं शताब्दी की फ्रांसीसी लेखिका 'सिमोन द बुआ' की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' (1949) से मानी जा सकती है। किन्तु कुछ लोग इसकी शुरुआत मैरी एलमन की पुस्तक 'थिंकिंग एबाउट वीमेन' 1968 से मानते हैं। स्त्री विमर्श ने स्त्री संबंधी समस्याओं पर सोचने पर मजबूर कर दिया है। भारत का स्त्री विमर्श पश्चिम के स्त्री विमर्श से प्रभावित है जबकि पुरातन दलित विमर्श संत साहित्य से पैदा हुआ और आधुनिक दलित वाया ब्लैक पैंथर से दलित पैंथर हिन्दी में आया। उच्च वर्णीय घरों की स्त्रियों के लेखन की शुरुआत महादेवी वर्मा की पुस्तक 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942) से मानी जा सकती है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार– "ऐसा लगता है कि नारीवादी और अन्य लेखिकाएं भी 'शृंखला की कड़ियाँ' के महत्व से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। वे सीमोन द बॉवुआ की किताब पढ़ती हैं लेकिन महादेवी वर्मा की शृंखला की कड़ियां नहीं, क्योंकि वह हिंदी में लिखी गई है, फ्रेंच या अंग्रेजी में नहीं।"[15] पाण्डेय जी का मूल्यांकन सतही और पूर्वाग्रह से ग्रसित है। वे इसे भाषा का मसला मानते हैं जबकि मुद्दा विचारों का है।

हिन्दी में स्त्री विमर्श ने बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में जोर पकड़ा। इस दृष्टि से उषा महाजन की 'बाधाओं के बावजूद नयी औरत' (2001), आशारानी व्होरा की 'स्त्री–सरोकार' (2002), क्षमा शर्मा की 'स्त्रीत्व–विमर्श : समाज और साहित्य' (2002), नासिरा शर्मा की 'औरत के लिए औरत' (2003), मैत्रेयी पुष्पा की 'खुली खिड़कियां' (2003), प्रभा खेतान की 'उपनिवेश में स्त्री' (2003) आदि महत्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही सुमन राजे ने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' 2003 लिखा है। इन सभी पुस्तकों ने स्त्री–विमर्श की सैद्धांतिकी गढ़ी है। स्त्री–विमर्श को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने वाली लेखिकाओं में उषा प्रियंवदा, कृष्ण सोबती, मन्नू भण्डारी, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डेय, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

कुल मिलाकर स्त्री विमर्श समय की मांग है जो सामाजिक संरचना में अपना स्पेस खोज रहा है। स्त्री विमर्श ने ही पितृसत्ता को चुनौती दी है। स्त्री की समस्याएं घर, परिवार और समाज से जुड़ी हुई हैं और उन्हीं का प्रतिबिंब स्त्री–विमर्श के द्वारा साहित्य में आया है।

विमर्शों का जन्म ही परंपरागत साहित्य के उस खालीपन को भरने के लिए हुआ है जिसमें उपेक्षित समाज का चित्रण न के बराबर हुआ। साहित्य के माध्यम से ही तो हम किसी दूसरे समाज की संस्कृति और उनकी समस्याओं को जान पाते हैं। यदि दलित विमर्श नहीं होता तो भला जाति की पीड़ा से ग्रसित समाज का सच वह कैसे जान पता जो जाति के आधार पर दंभ भरता है, वहीं

आदिवासी विमर्श न होता तो हम भला आदिवासियों की जीवन शैली से केसे परिचित हो पाते ? इसी प्रकार यदि स्त्री विमर्श लिंग–भेद की समस्या को हमारे सामने नहीं रखता तो पितृसत्ता के नकारात्मक पहलुओं से कैसे पर्दा उठता? इस प्रकार विमर्शों ने पाठक जगत के अनुभव को बढ़ाया है, साहित्य में कुछ नया जोड़ा है, उसमें पाठक वर्ग की रुचि पैदा की है। पाठक में संवेदना का विस्तार करता है। जैसा हमारा देश या समाज है उसमें साहित्य एक तरह का नहीं हो सकता। क्योंकि जब भारतीय समाज विविधतापूर्ण है तो भला साहित्य कैसे एकरूप या एक रस ले सकता था। यथार्थ ही विविधता है तो साहित्य भी उससे अछूता कैसे रह सकता है। साहित्य की भी विविधता होगी। साहित्य की किसी एक धारा के पीछे पागल नहीं होना है। साहित्य की विविधता से अपना रास्ता निकालना चाहिए और यह रास्ता विमर्शों ने निकाला है। विमर्शों ने साहित्य को समाज का मुकम्मल दर्पण बनाने का प्रयास किया है।

सही मायनों में देखा जाए तो विमर्शों ने साहित्य को समाज का दर्पण बनाया है। आज इन विमर्शों ने साहित्य में उन स्थानों को भरा है जो अब तक खाली रहे हैं। दलित विमर्श ने जाति के प्रश्न पर, आदिवासी विमर्श ने सरकार की विकासवादी अवधारणा की निरंकुशता के चलते जल, जंगल और जमीन के संकट और स्त्री विमर्श ने लिंग–भेद से जुड़े प्रश्नों को साहित्य में रखा है। जब ये प्रश्न साहित्य में आए तो पाठक की संवेदना भी उनसे जुड़े फिर भले ही वे प्रश्न उनके न हों। विमर्शों ने पाठक के अनुभव के दायरे को बढ़ाया है।

ऐसा जरूरी नहीं है कि कोई किसी के मत से पूर्णतः सहमत हो किंतु हमारा लोकतंत्र कहता है कि हर मत, विचार या रचना मायने रखती है। यदि मुझे कोई रचना पसंद नहीं है या मेरी कोई रचना किसी को पसंद नहीं है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह रचना समाज पर प्रभाव नहीं छोड़ती। हां यदि किसी रचना का वाचन या पाठन पूरे समाज पर नकारात्मक प्रभाव डालेगा या वह रचना व्यक्तिवादी दृष्टि को ध्यान में रख कर लिखी गई है तो हम उसे नकार भी सकते हैं। साहित्य में केवल व्यक्तिगत हित या अहित का प्रश्न नहीं होना चाहिए। यह पूरे समाज या सामूहिकता का प्रश्न है। यह अलग बात है कि रचना कितने हिस्से को प्रभावित कर पाती है। क्या दलित की रचना केवल दलित समाज को ही प्रभावित करती है ? समृद्धशाली वर्ग उससे प्रभावित नहीं होता। इससे मुझे ये पता चला कि संवेदना कहीं भी हो सकती है, साहित्य को समझने की जो मनोदशा है वह किसी भी बच्चे में हो सकती है। यह कतई आवश्यक नहीं कि दलित साहित्य केवल दलित बच्चा ही समझेगा। जब हम अफ्रीका–अमेरिका के दासों की कहानियों को पढ़ते हैं तो संवेदना के कारण ही यह कहते हैं कि दास जैसी प्रथा तो कहीं होनी ही नहीं चाहिए और मनुष्य को रहने, जीने और विकसित होने के लिए समान अवसर मिलने चाहिए। अतः आत्मसम्मान, आत्मगौरव, आत्मचेतना, समानता, समरसता, समन्वय एवं समानधिकार विमर्शों का मूल उद्देश्य है। इस पूरे

विमर्श में जो चीज मिसिंग(गायब) है वह है दलित एवं आदिवासी स्त्री लेखन। यह स्वतंत्र विचार की दरकार रखता है।

संदर्भ–सूची :

1. उत्तर–आधुनिकतावाद और विचारधारा, जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड,प्रथम संस्करण, 2018, पृ.11
2. ज्ञान शब्द कोश, मुकुंदीलाल श्रीवासत्व (संपादक), ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1956, पृ.741
3. हिन्दी पर्यावाची कोश, डॉ. भोलानाथ तिवारी(संपादक), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ.572
4. अस्मिता–विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, मेघा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ.35
5. आदिवासी और हिन्दी उपन्यास रू अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, गंगा सहाय मीना, अनन्य प्रकाशन, पुनर्मुद्रण, 2020, पृ.20
6. हिन्दी दलित लेखन : उद्‌भव एवं विकास, बजरंग बिहारी तिवारी, संवेद–48, जनवरी, 2012, नई दिल्ली, पृ.7
7. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ. शरण कुमार लिंबाले, (संपादक) रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2020, पृ.31
8. कबीर : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रक्षिप्त चिंतन– डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2000, पृ.37
9. संत रैदास का निर्वर्ण संप्रदाय, डॉ. धर्मवीर, समता प्रकाशन, पृ.18
10. समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, (डॉ0) देबरे, शिवा जी तथा (डॉ0) मधु खराटे, विद्या प्रकाशन, कानपुर, संस्करण, 2013, भूमिका से उद्धृत
11. हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिंतन, विनोद विश्वकर्मा, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ.8
12. औरत, अमृता प्रीतम, हिन्दी पाकेट बुक्स, दिल्ली, 1976, पृष्ठ, 52
13. उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ.53
14. अस्मिता–विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, मेघा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ.34
15. आदिवासी और हिन्दी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, संस्करण, 2020, पृ.13

■

कृष्णा सोबती के उपन्यास

'समय सरगम' का मनोसामाजिक महत्व

डॉ. शरद सिंह *

प्राक्कथन : समय यदि संगीत है तो आयु उसका आरोह और अवरोह है। जन्म से ले कर चरम युवा काल तक आरोह और फिर प्रौढ़ावस्था के लघु ठहराव के बाद अवरोह का स्वर फूटने लगता है। समय और आयु किसी की के लिए ठहरती नहीं है। समय का राग अपने अनेक स्वरों के साथ ध्वनित होता रहता है और आशाओं, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं की स्वरलिपि आयु अनुरूप राग छेड़ती रहती है। तार सप्तक के बाद मंद सप्तक पर लौटना अनुभवों से भरे जीवन का गुरूतम स्वरूप होता है जिसे आरोही स्वर अवरोह का थका हुआ स्वर मान लेते हैं और अपनी स्फूर्ति पर इठलाते हुए मंद–सप्तक स्वरों को बोझ समझने लगते हैं। यही समय और आयु का सत्य है और मानव के सामाजिक जीवन का भी। कृष्णा सोबती के उपन्यास ''समय सरगम'' में जीवन के स्वरों के अवरोह का भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्पष्टता से उसी बेबाकी से किया गया है, जिसके लिए उनका लेखनकर्म ख्यातिलब्ध रहा है। समाज द्वारा गढ़े गए उस मनोविज्ञान का भी विश्लेषण इस उपन्यास में है जो वृद्धजन की सामाजिक एवं मानसिक स्थितियों से साक्षात्कार कराता है।

कृष्णा सोबती का जीवन : कृष्णा सोबती हिन्दी की लेखिकाओं में वह क्रांतिकारी नाम है जिसने खुल कर, साहस के साथ कलम चलाई और वे कभी डरी या घबराई नहीं। वे अपने लेखन के साथ समाज के कट्टरपंथियों के सामने डट कर खड़ी रहीं। कृष्णा सोबती का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरात नामक उस हिस्से में 18 फरवरी 1925 को हुआ था, जो अब पाकिस्तान में है। उन्होंने आरम्भ में लाहौर के फतेहचंद कॉलेज से अपनी उच्च शिक्षा की शुरुआत की थी, परंतु जब भारत का विभाजन हुआ तो उनका परिवार भारत लौट आया। कृष्णा सोबती की शिक्षा दिल्ली और शिमला में हुई।

कृष्णा सोबती को अपने कथापात्रों के मनोविज्ञान को अपने उपन्यासों और कहानियों में उतारने में महारत हासिल थी। उनके सभी पात्र प्रखर होते थे। विशेष रूप से उनकी कहानियों के स्त्री पात्र अपने अस्तित्व के लिए आवाज बुलंद करने वाले होते थे, जिसके कारण वे कई बार विवादों में भी रहीं। उन्होंने जिंदगीनामा, डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, यारों के यार, तिन पहाड़, समय सरगम, जैनी

* संपर्क : एम–111, शांति विहार, रजाखेड़ी, सागर, म.प्र.–470004, मो. : 7987723900, ईमेल : drsharadsingh@gmail.com

मेहरबान सिंह, गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान, ऐ लड़की, दिल–ओ–दानिश और चन्ना जैसे उपन्यास लिखें।

लेखन में निर्भीकता, खुलापन और भाषागत प्रयोगशीलता ये तीन विशेषताएं कृष्णा सोबती को अपने समकालीन लेखिकाओं से अलग करती हैं। सामाजिक बंदिशों के समय में अपने स्त्री समाज के प्रति मुखर होना उनके आंतरिक साहस को रेखांकित करता है। सन् 1950 में कहानी ''लामा'' से अपनी साहित्यिक यात्रा आरंभ करने वाली कृष्ण सोबती स्त्री की स्वतंत्रता और न्याय की पक्षधर थीं। उन्होंने समय और समाज को केंद्र में रखकर अपनी रचनाओं में एक युग को गढ़ा। अपने लेखन के बारे में उनका कहना है कि ''मैं बहुत नहीं लिख पाती हूं। मैं तब तक कलम नहीं चला पाती हूं, जब तक अंदर की कुलबुलाहट और उसे अभिव्यक्त करने का दबाव इतना अधिक न बढ़ जाए कि मैं लिखे बिना न रह सकूं।''

कृष्णा सोबती को सन 1980 में जिंदगीनामा के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। सन 1981 में शिरोमणि पुरस्कार के अतिरिक्त मैथिली शरण गुप्त सम्मान से सम्मानित किया गया। सन 1982 में कृष्णा सोबती को हिंदी अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। सन 1996 में कृष्णा सोबती को साहित्य अकादमी फेलोशिप से पुरस्कृत किया गया। सन 1999 में, लाइफटाइम लिटरेरी अचीवमेंट अवार्ड के साथ कृष्णा सोबती प्रथम महिला बनीं जिन्हें कथा चूड़ामणि अवार्ड से नवाजा गया। सन 2008 में हिंदी अकादमी दिल्ली का 'शलाका अवार्ड' भी उनको मिला तथा सन 2017 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

एक दिलचस्प बात जिसके बारे में उन्होंने अपने एक साक्षात्कार में बताया था कि उपन्यास 'जिंदगीनामा' सन् 1952 में लिख कर प्रकाशक के पास भेजा किन्तु प्रकाशक ने उसकी भाषा पर आपत्ति करते हुए उसमें परिवर्तन करने को कहा। कृष्णा सोबती को यह स्वीकार्य नहीं हुआ और उन्होंने उसे प्रकाशक से वापस ले लिया। अंततः वह उपन्यास सन् 1979 में प्रकाशित हुआ और उस पर उन्हें 1980 साहित्य अकादमी अवार्ड दिया गया। यद्यपि कुछ दशक बाद उन्होंने असहिष्णुता के मुद्दे पर साहित्य अकादमी अवार्ड सहित हिंदी अकादमी का 'शलाका सम्मान' और 'व्यास सम्मान' भी लौटा दिया था। इतना ही नहीं उन्होंने 'पद्मभूषण' लेने से भी मना कर दिया था। ऐसी दृढ़ और जीवट लेखिका के बारे जानने की जिज्ञासा हर साहित्यकार के मन में होना स्वाभाविक है। 25 जनवरी 2019 को 93 वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ।

''समय सरगम'' का मनोसामाजिक विश्लेषण एवं महत्व : वृद्धावस्था जीवन की एक अनिवार्य स्थिति है। व्यक्ति जब तक युवा रहता है तब तक उसमें स्फूर्ति का सागर हहराता रहता है। किन्तु वृद्धावस्था दैहिक ऊर्जा को निरंतर क्षीण करती जाती है। उस समय उसे सबसे अधिक आवश्यकता होती है पारिवारिक एवं सामाजिक मनोबल की, अपनत्व की और सहारे की। ऐसी अवस्था में यदि किसी व्यक्ति को एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़े तो वह छोटे–छोटे सहारे को भी बड़ा मान बैठता है। वस्तुतः यह एक जटिल मानसिक स्थिति है।

'समय सरगम' कृष्णा सोबती का एक अनूठा उपन्यास है। यह समय की गति को उसकी नब्ज़ और सामाजिक दुरावस्थाओं के साथ जांचता है। 'समय सरगम' को पढ़ते हुए सहसा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का संस्मरणात्मक निबंध 'वृद्धावस्था' याद आता है जिसमें उन्होंने लिखा है –''काल की बड़ी क्षिप्र गति है। वह इतनी शीघ्रता से चला जाता है कि सहसा उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम लोग मोहावस्था में पड़े ही रहते हैं और एक–एक पल, एक–एक दिन और एक–एक वर्ष कर काल हमारे जीवन को एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चुपचाप ले जाता है। जब कभी किसी एक विशेष घटना से हमें अपनी यथार्थ अवस्था का ज्ञान होता है तब हम अपने में विलक्षण परिवर्तन देखकर विस्मित हो जाते हैं। उस समय हमें चिंता होती है कि अब वृद्धावस्था आ गई है, अब हमें अपने जीवन का हिसाब पूरा कर देना चाहिए। दर्पण में प्रतिदिन ही हम अपना मुख देखते हैं, पर अवस्था का प्रभाव इतने अज्ञात रूप से होता है कि हम अपने मुख पर कोई परिवर्तन नहीं देख पाते। कान के पास बालों को सफेद देखकर राजा दशरथ को एक दिन सहसा ज्ञात हुआ कि अब उनकी वृद्धावस्था आ गई। उस दिन निर्मला से परिचित होने पर मुझे भी सहसा ज्ञात हुआ कि मैं अब वृद्ध हो गया हूं।''

अवस्था चाहे कोई भी हो प्रायः किसी अन्य व्यक्ति के बोध कराने पर अनुभव होती है, व ृद्धावस्था तो विशेषरूप से। बच्चे आयु में कितने भी बड़े हो जाएं किन्तु माता–पिता की दृष्टि में बच्चे ही रहते हैं। पचास वर्षीय संतान को भी चोट लगती है तो मां को ठीक उतनी ही पीड़ा होती है जितनी कि उसे शैशवावस्था में चोट लगने पर पीड़ा होती थी। इसके विपरीत मां की गोद में छिप कर सारे संसार के भय, निराशा और क्रोध से मुक्ति पा लेने वाली संतान जब आत्मनिर्भर हो जाती है तब उसे अपनी वही मां अनापेक्षित लगने लगती है। वह अपनी अशक्त हो चली मां को वह संरक्षण, वह सहारा, वह स्नेह देने को तैयार नहीं होता है जो उसने अपनी मां से पाया था।

वृद्धावस्था का अहसास उस पल पहली बार होता है जब अपनी ही संतान द्वारा अवहेलना का शिकार होना पड़ता है वहीं वृद्धावस्था समाज द्वारा 'बेचारी' अवस्था के रूप में देखे जाने के कारण भी व्यक्ति को तोड़ने लगती है। 'समय सरगम' में दो प्रमुख पात्र हैं– आरण्या और ईशान। दोनों वृद्धावस्था में पहुंच चुके हैं। वह अवस्था जिसे 'सीनियर सिटिजन' के सम्बोधन से खोखला सम्मान तो दे दिया जाता है किन्तु सत्यता इससे परे कटु से कटुतर होती है। ईशान बाल–बच्चेदार व्यक्ति हैं किन्तु उनके बेटे उन्हें अपने साथ नहीं रखते हैं। ईशान अकेले रहते हैं और इस बात की प्रतीक्षा रहती है उन्हें कि उन्हीं पोती अपनी छोटी–छोटी ख्वाहिशों को पूरा करने के लिए उन्हें फोन करेगी और बुलाएगी। यह अल्प सुख ईशान के भीतर जीवित रहने की जिजिविषा बनाए रखता है। यह सच है कि आरण्या के साथ ने उनके जीवन में उत्साह का संचार किया। वहीं आरण्या एकाकी महिला है। जीवन जीने की दिशा में ईशान से कहीं अधिक स्फूर्त। वह लेखिका है। शायद इसी लिए उसका एकाकीपन उसे नैराश्य से बचाए रखता है। दोनों व्यक्ति दिल्ली महानगर में रहते हैं। दोनों दिल्ली विकास प्राधिकरण के

आभारी हैं जिसने ऐसे पार्क बना रखे हैं जहां जवान, बूढ़े हर कोई घूम सकता है, हल्के–फुल्के व्यायाम करते हुए परस्पर एक दूसरे से परिचित हो सकता है। वृद्धों के लिए ऐसी जगह सबसे आरामदेह है। ''बूढ़ों सयानों की टोली हर शाम इस छोटे से बगीचे में पहले टहलती है, फिर बतियाती है। डी.डी.ए. की बदौलत। नागरिक कृतज्ञ हैं इस छुटके से बगीचे में बिछी हरियाली घास के लिए। फूलों की क्यारियों और लतरों के लिए। न होता ये सुहाना टुकड़ा तो देखती रहती यह आंखें सीमेंट के अपार्टमेंट जंगल को।'' (पृ.89)

कथानक भले ही एकाकी वृद्धों के जीवन पर केन्द्रित हो किन्तु देश के बंटवारे का दर्द 'समय सरगम' में भी अपनी सम्पूर्णता के साथ दिखाई पड़ता है। ''नई पुरानी दिल्ली अपनी घनी सजीली छब में हर हाल में अपनी सूरत और सीरत सम्हाले रहती। आज़ादी के साथ ही राजधानी में बाढ़ की तरह रेला उठ आया। आक्रामक विस्थापितों के ठट्ठ के ठट्ठ। यहां–वहां सब जगह। शहर के हर इलाके में। दिल्ली निवासी शरणार्थियों की भीड़ से परेशान और गांव–कस्बों और शहरों से उखड़े हुए आक्रामक शरणार्थी–दिल्ली के सुसंस्कृत मिज़ाज में घूल भरी आंधियां चलने लगीं।'' (पृ.43)

शरणार्थी अपने और अपनों के जीवन के लिए आक्रामक मुद्रा में भले ही थे किन्तु अधिकांश ऐसे थे जो अकेले रह गए थे। अतः अकेलेपन की चर्चा के समय देश के बंटवारे के दौरान उपजा अकेलापन भी विषयानुकूल है। पहले भरपूरा परिवार पारम्परिक और संस्कृति से ओतप्रोत फिर एक लम्बा अकेला जीवन। यह बंटवारे के समय परिस्थिति का परिणाम रहा किन्तु वर्तमान में यह प्रारब्ध बन गया है। दिल्ली जैसे महानगरों की गंगनचुम्बी इमारतों के छोटे–छोटे फ्लैट्स में एकल परिवार और अकेले बूढ़ों की वो दुनिया बस गई है जिनके बीच स्नेह की बेल सूख चुकी है। आरण्या और ईशान संयुक्त परिवार की अवधारणा के समाप्त होने पर चर्चा करते हैं तो आरण्या बोल उठती है–''ईशान, मुझे संयुक्त परिवार का अनुभव नहीं। दूर–पास से जो इसकी आवाज़ें सुनीं वह सुखकर नहीं थीं। इतना जानती हूं कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता ओर गरिमा का मूल्य भी उनहें ही चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। परिवार की सांझी श्री पैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित है। उसकी आंतरिक शक्ति क्षीण हो चुकी है। घनी छांह की जगह घिसी हुई पुरानी चिन्दियां फरफरा रही हैं। जानती हूं ईशान, आपको यह बात ठीक नहीं लग रही, पर मैं अपनी कीमत पर इसकी पड़ताल कर रही हूं और 'सत्य' के नाना–रूप में संचारित छोटे–बड़े झूठ और झूठों से बनाए गए स्वर्णिम सत्यों की ठोंक–पीट ही इस सात्विक संसार की प्रेरणा है।'' (पृ.64)

यदि वृद्धावस्था आ गई है तो क्या चौबीस घंटे ईश्वर की स्तुति एवं धर्म–दर्शन में व्यतीत करना चाहिए? ईशान आरण्या का परिचय दमयंती से कराता है। वह भी उनकी हमउम्र है। किन्तु वह इन दोनों की भांति एकाकी नहीं है वरन् अपने बेटों–बहुओं के साथ रह रही है। उसने समाज एवं परिवार की प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप स्वयं को एक गुरु की शिष्या बना कर सत्संग के हवाले कर दिया है। ऊपर से देखने से यही लगता है कि वह अपनी इस स्थिति से प्रसन्न एवं संतुष्ट है। वास्तविकता इससे परे है। दमयंती का खान–पान गुरु के

निर्देशानुसार बदल चुका है। पहनावा भी उन्हीं के अनुसार अपना लिया है। लेकिन बेटे, बहू फिर भी संतुष्ट नहीं हैं। दमयंती मानो किसी भुलावे में जी रही है। वह कहती है–''आरण्या, मैं सूती कपड़ा तन को छुआती न थी। एक दिन सत्संग के बाद मेरी गुरूजी ने टोक दिया। अब सूफियाने–से सूती जोड़े बनवाए हैं। मेरे बेटों और बहुओं की सुनो। रेशम पहनो तो कहते हैं, इस उम्र में ये मचक–दमक अच्छी नहीं लगती। सूती पहनूं तो वह भी पसंद नहीं। कहते हैं कि इनमें आप हमारी मां नहीं लगतीं। तुम्हीं बताओ क्या करूं?'' (पृ.72) लेखन और समाजहित के कार्यों के संबंध में यही दमयंती आगे कहती है–''बहन, यह काम तो यहीं धरे रह जाएंगे ओर कभी पूरे न होंगे। हमें आगे का भी सोचना है।'' कितनी दिग्भ्रमित है दमयंती। जिसने अपने बच्चों को पाल–पोस कर बड़ा किया। उन्हें सही और गलत का अर्थ समझाया। सही रास्ता दिखाया। जीवन का अर्थ समझाया। वहीं दमयंती वृद्धावस्था में आते ही अपने बच्चों के व्यवहार से इतनी भयाक्रांत हो गई कि उसने सही और गलत में भेद करना ही भुला दिया। परलोक के अस्तित्व के विचारों ने उसे इहलोक के उन दायित्वों से विमुख कर दिया जो अभी वह भली–भांति निभा सकती थी। अपितु ये कहा जाए कि यही वृद्धावस्था की दायित्वमुक्त आयु स्वयं को जीने की आयु होती है जिसे दमयंती जैसे व्यक्ति जीने का न तो साहस कर पाते हैं और न दसके बारे में सोच पाते हैं। परलोक के अस्तित्व की एक भेड़चाल या फिर वृद्धों को भयभीत कर रखने की वह चाल जिसमें उलझ कर वे युवाओं के जीवन में हस्तक्षेप न कर सकें।

आरण्या परलोक–भय की भेड़चाल से परे अपने रास्ते पर चल रही है। वह अपने तयशुदा दायित्वों के प्रति न केवल सजग है अपितु उन्हें निष्ठापूर्वक पूरे भी करना चाहती है। आयु को ले कर ईशान के ऊहापोह के उत्तर में आरण्या कहती है–''मैं अपने को उम्र में इतना बड़ा महसूस नहीं करती जितना आप मान रहे हैं। मेरे आसपास मेरा परिवार नहीं फैला हुआ कि मैं अपने में मां, नानी, दादी की बूढ़ी छवि ही देखने लगूं। ईशान, मुझे मेरा अपनापन निरंतरता का अहसास देता है।'' (पृ.80) यही तो वह तथ्य है कि आयु को अनुभव करना ही आयु को से समझौता कर लेना है। आरण्या को यह समझौता स्वीकार नहीं है। वह बड़ी–बूढ़ी छवियों में उलझ कर स्वयं को बूढ़ी मान कर थकाना नहीं चाहती है। क्योंकि वह जानती है कि एकाकीपन उन रिश्तों की बूढ़ी छवियों के बीच और अधिक गहरा जाता है। रिश्तों के एकाकीपन के तारतम्य में उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' सहसा स्मरण हो आती है। एक व्यक्ति जब रिटायर हो कर घर लौटता है तो घर में खलबली मच जाती है। उसे सदा के लिए कोई अपने बीच नहीं पाना चाहता है। घर का प्रत्येक सदस्य, यहां तक कि उसकी पत्नी भी चाहती है कि वह उसकी तरह समझौतावादी बन कर रहे अथवा फिर कहीं चला जाए। उसकी घर वापसी उसके घरवालों के लिए ही खटकने वाली हो जाती है। यही है अपनों के बीच का परायापन जो सेवानिवृत्त व्यक्ति को अकेला कर देता है।

आरण्या के अपने अनुभव भी कम कटु नहीं थे। यदि वृद्ध व्यक्ति अकेला हो तो क्या उसे सुगमता से किराए का घर मिल सकता है? वह न तो युवाओं जैसी

पार्टियां करेगा, न तो लड़कियों अथवा लड़कों को अपने घर लाएगा, युवाओं में प्रचलित कोई भी असमाजिक हरकत नहीं करेगा चाहे वह वृद्ध हो या वृद्धा। फिर तो मकान मालिक को ऐसे वृद्धों को किराए से मकान देने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। आर्थिक स्थिति से सुरक्षित वृद्ध का तो और पहले स्वागत किया जाना चाहिए। किन्तु इस सिक्के का दूसरा पहलू अत्यंत भयावह है। आरण्या को मकान बदलने की नौबत आती हैं वह एक अदद किराए का मकान ढूंढने निकल पड़ती है।

''एक अच्छे खासे घर को दो–तीन बार देख कर उसका एडवांस देना चाहा तो ऐजेंट के साथ खड़े बुजुर्ग ने पूछा–यह बताएं कि आपकी जिम्मेदारी कौन लेगा?

जिम्मेदारी? क्या मतलब?

आप अकेली रहेंगी कि कोई और भी साथ में होगा?

मैं रहूंगी और मैं ही अपने लिए जिम्मेदार हूं।

आपकी जन्म तारीख किस सन् की है?

यह क्यों पूछ रहे हैं आप?

इसलिए कि हमें पूछना चाहिए। कल को चली–चलाई को कुछ चक्कर हो तो हम झमेले में क्यों पड़ें।'' (पृ.122)

यानी मृत्यु का आकलन करके मकान किराए पर देना तय करना। एकदम अमानवीय विचार। एकदम अमानवीय कृत्य। किन्तु यही सामाजिक सत्य है, घिनौना, स्वाभाविक सोच से परे। मृत्यु वृद्धावस्था की सगी–संगिनी हो, यह आवश्यक नहीं है। यह आयु का उतार चढ़ाव नहीं देखती है। बस, अपने मतलब की सांसें गिनती है और आ धमकती है। शिशु भी, युवा भी, वृद्ध भी सभी इसी की छांह में सांस लेते हैं। यदि पल भर को मान लिया जाए कि मृत्यु और वृद्धावस्था सगी बहनें हैं तो ऐसी दशा में तो वृद्ध को सहारा और सिर पर छत मिलनी ही चाहिए। किन्तु स्वार्थ और आर्थिक लोभ इंसान को पाषाणहृदय बना देता है। तभी तो जब एक अन्य फ्लैट को तय करने के लिए आरण्या एजेंट से बातचीत करती है।

''एजेंट ने कंपनी लीज़ की मांग की।

कुछ देर सोचती रही फिर हामी भरी। हां, दे सकूंगी।

नाम बताइए कंपनी का। कौन है?

मेरे प्रकाशक हैं।

क्या आप लेखक हैं! किताबें लिखती हैं? ऐसा है तो कहां से ला कर देंगी किराया?

आरण्या बिना जबाव दिए नीचे उतर गई।'' (पृ.122)

कृष्णा सोबती यहां एक साथ दो बिन्दुओं पर प्रहार करती हैं। एक तो वृद्धों के प्रति मकानमालिक और ऐजेंट के मानवतारहित व्यवहार पर और दूसरा भारत में लेखकों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा पर। भारत में आदिकाल से लेखन को चौंसठ कलाओं में से एक कला माना जाता रहा है। किन्तु मान्यता और यथार्थ के बीच की गहरी खाई यहां हमेशा रही है। राजाओं के जमाने में राजाश्रय पा

जाने वाले साहित्यकार अर्थ और समाज से प्रतिष्ठित रहते थे जबकि राजाश्रयविहीन साहित्यकार यदि पूछे भी जाते रहे हैं तो अपनी मृत्यु के सदियों बाद। आधुनिक युग में भी यही स्थिति है। पाश्चात्य जगत में ऐसा नहीं है। वहां साहित्यकार सिर्फ साहित्य सृजन कर के रायल्टी के दम पर अपनी रोजी–रोटी चला सकता है। किन्तु भारत में नहीं। यहां लेखक को बुद्धिजीवी की श्रेणी में भले ही गिना जाए परन्तु उसकी 'लक्ष्मीप्रिया' नहीं मानी जाती है। जो बुद्धि सीधे धनार्जन में लगे उसकी साख है, साहित्य में लगने वाली बुद्धि की नहीं। साहित्य का 'मार्केट वेल्यू' साहित्य व्यवसायी के लिए भले हो पर साहित्यकार के लिए नहीं होता है। अस्तु एक साहित्यकार की आर्थिक साख और उसके साहित्य के बल पर उसके जीवन की मूल्यवत्ता होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

आरण्या को अपनी सहेली के घर शरण लेनी पड़ती है। तब ईशान के मन में आता है कि क्यों न आरण्या उसके घर में आ कर रहे एक साथी की तरह। आरण्या कुछ हिचकते हुए प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है। दो वृद्धजन परस्पर एक–दूसरे का सहारा बन कर जीने लगते हैं। विपरीत लिंगी होते हुए भी एक वासना रहित जीवन। विशुद्ध मैत्री पर आधारित साथ जिसमें एक–दूसरे का सुख–दुख, चिन्ता, आवश्यकताएं और पूरकता निहित है। ''कितने बरस गुज़र गए। हम कहां से चले थे और कहां पहुंच गए। कहां मालूम था िकपतझर के इस मौसम में हम लोग मिल जाएंगे, पुराने परिचितों की तरह नहीं–नए मित्रों की तरह। लंबा अरसा हो गया है इस शहर में रहते। अपने–अपने खातों को देंखें तो कहां जान पाएंगे कि कितना खोया और कितना पाया। हां, आरण्या, तुम्हें जान लेने पर यह तो लगता है कि जीना बैंक का अकाउंट नंबर नहीं, जिसका कुल जोड़ कुछ आंकड़ों में हो। मैं अब किसी असमंजस में नहीं हूं। क्यों न अपने जाने को सहज–सरल कर लें। हम दोनों में से किसी को दिक्कत न होगी।'' (पृ.147)

जीवन से एक साझापन ही आयु के समय को आसान बना सकता है बशर्ते यह साझापन विवशता का नहीं सहजता और उत्फुल्लता का हो। अन्यथा एकाकी वृद्धों के पास अपनी बचीखुची सांसें गिनते हुए दिन काटने के सिवा कोई चारा नहीं बचता है। एक ओर कामिनी, दमयंती जैसे वृद्ध हैं जो पारिवारिक दबाव के चलते आयु के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं या फिर एक निःश्वास की भांति मंथर गति से घिसटते रहते हैं मृत्यु की ओर। ईशान जैसे वृद्ध व्यक्ति भी हैं जो परिस्थितियों को एक मध्यममार्गी की भांति स्वीकार करते हैं। वहीं आरण्या जैसे वृद्ध हैं जो बिना किसी को कष्ट पहुंचाए अपना जीवन अपने ढंग से जीने के लिए कृतसंकल्प रहते हैं। स्वावलंबी और स्वाभिमानी ढंग से। यद्यपि ऐसे मार्ग में अवरोध ही अवरोध हैं। एक तो स्त्री, वह भी अकेली और उस पर लेखिका। न कोई आर्थिक साख, न कोई सामाजिक सहारा। फिर भी अडिग रह कर जीवन के शेष दिनों को अपनी इच्छानुरुप ढालने का साहस। यही साहस उसे ईशान की निर्विकार मित्रता उपलब्ध कराता है। कृष्णा सोबती 'समय सरगम' में इसी सत्य को बखूबी सामने रखती हैं कि जीवन उतार–चढ़ावों से परिपूर्ण है। यदि तार–स्वर हैं तो मंद–स्वर भी हैं। फिर भी ये सभी एक रागों में निबद्ध हैं।

'समय सरगम' की भाषा पाठक से सीधा संवाद करती है। अपनी भाषा के संदर्भ में एक साक्षात्कार में कृष्णा सोबती ने कहा था कि–'' पात्र की सामाजिकता, उसका सांस्कृतिक पर्यावरण उसके कथ्य की भाषा को तय करते हैं। उसके व्यक्तित्व के निजत्व को, मानवीय अस्मिता को छूने और पहचानने के काम लेखक के जिम्मे हैं। भाषा वाहक है उस आंतरिक की जो अपनी रचनात्मक सीमाओं से ऊपर उठकर पात्रों के विचार स्रोत तक पहुंचता है। सच तो यह है कि किसी भी टेक्स्ट की लय को बांधने वाली विचार–अभिव्यक्ति को लेखक को सिर्फ जानना ही नहीं होता, गहरे तक उसकी पहचान भी करनी होती है। अपने से होकर दूसरे संवेदन को समझने और ग्रहण करने की समझ भी जुटानी होती है। एक भाषा वह होती है जो हमने मां–बोली की तरह परिवार से सीखी है– एक वह जो हमने लिखित ज्ञान से हासिल की है। और एक वह जो हमने अपने समय के घटित अनुभव से अर्जित की है। जिस लयात्मकता की बात आपने की, समय को सहेजती और उसे मौलिक स्वरूप देती वैचारिक अंतरंगता का मूल इसी से विस्तार पाता है।'' उनकी भाषा की यही विशेषता कृष्णा जी के सृजन में आत्मीयता पैदा करती है। इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है उनका कथानक जो 'समय सरगम' में ढलकर समाज में वृद्धों की दशा को खंगालता है, महसूस कराता है।

निष्कर्ष :'समय सरगम' कृष्णा सोबती का एक ऐसा उपन्यास है जो वृद्धावस्था को प्राप्त एकाकी रह रहे स्त्री–पुरुष के विचारों, इच्छाओं, परिस्थितियों एवं हर ओर से मिलने वाली उपेक्षा व अवहेलना का मनोसामाजिक विश्लेषण करता है। यह उपन्यास वृद्ध विमर्श का एक ऐसा धरातल तैयार करता है जिस पर खड़े हो गया वृद्धावस्था के कम्पन को सूक्ष्मा से अनुभव किया जा सकता है। संवेदनाओं एवं दृढ़ता की प्रचुरता को रेखांकित करने के साथ ही यह समाज से आग्रह करता है कि वृद्धों के प्रति अपने दृष्टिकोण में सुधार लाने की आवश्यकता है। वस्तुतः 'समय सरगम' एक सशक्त मनोसामाजिक उपन्यास है।

संदर्भ :

1. समय सरगम, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, सन 2008, पेपर बैक।
2. लेख, समाज में वृद्धों की दशा को खंगालता समय सरगम, लेखिका– डॉ. (सुश्री) शरद सिंह, सापेक्ष 60 (कृष्णा सोबती के कृतित्व पर केन्द्रित), संपादक– महावीर अग्रवाल, प्रकाशक– सापेक्ष, ए–14, आदर्श नगर, दुर्ग (छ.ग.)
3. सापेक्ष 60 (कृष्णा सोबती के कृतित्व पर केन्द्रित), संपादक– महावीर अग्रवाल, प्रकाशक– सापेक्ष, ए–14, आदर्श नगर, दुर्ग (छ.ग.)
4. कृष्णा सोबती के कृतित्व पर केन्द्रित एक अनूठी पुस्तक ''सापेक्ष 60'', पुस्तक समीक्षा, समीक्षक – डॉ. (सुश्री) शरद सिंह, दैनिक ''आचरण'' सांगर संस्करण, 14.12.2012

■

समकालीन उपन्यासों में नव शहरीकरण

डॉ. रीता सिन्हा ❖

आज का युग जिस पूँजीवादी, उपभोक्तावादी, स्वार्थवादी और अमानवीय विचारों के घेरे में है उसमें कुछ भी स्थायी नहीं है। न शहर की रूप–रेखा स्थायी है और न शहर में बसने वाले लोग स्थायी हैं। आज कुछ ही लोगों के हाथों में ऐसी जादुई डोर है, जिससे समाज, संस्कृति, धर्म, सत्ता, गाँव, शहर, जीवन सब कुछ संचालित होता है। समकालीन उपन्यासों में आज के दौर के इसी संश्लिष्ट यथार्थ से हम साक्षात्कार करते हैं। आज के महानगरों और शहरों में अपना वर्चस्व कायम रखने की राजनीति काफी फल–फूल रही है। कभी–कभी कुछ खघस विचारों की उत्ताल लहरें इस तरह गर्जना करती हैं कि लोग अपने अतीत और अपने पूर्वजों की धरोहरों को भूलने लगते हैं। शहरों में हमेशा नई संस्कृति, नई सोच और नए सामाजिक मूल्य विकसित होते हैं, जिन्हें अपनाकर कभी लोग अपने को प्रगतिशील मानते हैं और कभी श्रेष्ठ होने का अनुभव और दावा करते हैं। यहाँ अब पहले की सारी चीजें विस्थापित होने लगी हैं। अलका सरावगी ने अपने उपन्यास'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में शहर की इसी सच्चाई को व्यक्त किया है– "बड़ा बाजार पूरे देश में अपने आप में एक अनोखा विशाल बाजार है।... कभी बंगाली कारोबारियों की तूती बोलती थी, पर अब उनके नाम पर सिर्फ सड़कें या महल बचे हैं– सेठ, बसाक, मल्लिक, साहा के वंशज अब कारोबार नहीं करते हैं।... बारिश से क्रिकेट तक हर चीज पर सट्टा चलता है। हर आदमी किसी भी तरह से और अधिक कमाने की जुगत में लगा है।" (पृष्ठ 68)

विमल जालान कहते हैं–"प्रौद्योगिकी संबंधी विकासों के संदर्भ में उद्योगों की रूपरेखा भी बदल रही है। पहले जो स्वीकार्य था, वह अब नहीं है। सार्वजनिक नीति के सूत्रीकरण के लिए भी एक बढ़ते प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में भूमंडलीकरण और पूँजी का स्वच्छंद प्रवाह भयावह चुनौतियाँ (उदाहरण के लिए, विनियम– दर या राजस्व नीति के प्रबंधन में) प्रस्तुत कर रहा है" ।

समकालीन उपन्यासों में आज की औद्योगिक मानसिकता से प्रभावित समाज है, इस समाज की बदलती संस्कृति है, परिवर्तनशील विचारधाराएँ हैं,

❖ संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली–110068, मोबाइल– 9818363465

शक्ति की राजनीति है और स्वार्थ के लिए पुराने चोले को छोड़कर नित नए चोले पहनने वाले लोग हैं। 'पीली छतरी वाली लड़की' में उदय प्रकाश इसी सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं– "अब कहीं कोई नागरिक समाज नहीं बचा। सिर्फ सरकारें हैं, कंपनियां हैं, संस्थाएं हैं माफिया और गिरोह हैं। और अगर अब भी तुम किसी लेखक, कवि या विद्वान को हवाई जहाज में सवार होकर विदेश जाते देखते हो, तो जान लो, वह किसी कंपनी, किसी व्यापारी, किसी संस्था या गिरोह का सदस्य या दलाल है। आल्वेज डाउट हिज इंटिग्रिटी" ।

आज शहरों का निरंतर विकास हो रहा है और कई बड़े शहरों में टाउन प्लानिंग डिपार्टमेंट और विकास प्राधिकरण उन क्षेत्रों का विस्तार कर रहे हैं, जहाँ शहरीकरण हो सकता है। आज दिल्ली, मुंबई, चेन्नई, कोलकाता आदि में आबादी काफी बढ़ रही है, जिससे इन महानगरों में आस–पास के गाँवों का भी शहरीकरण हो रहा है। दिल्ली में नांगलदेव, ओखला, छतरपुर, महरौली, महिमपालपुर, मसूदपुर, द्वारका के आस–पास के गाँवों का शहरीकरण शहर में बढ़ रही आबादी के लिए जगह बनाने के उद्देश्य से हो रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में शहरीकरण के कारण, वहाँ खेती योग्य भूमि पर बिल्डर्स इमारतें बनाने लगे हैं। गुड़गाँव, नोयडा आदि में भी निरंतर विकास की प्रक्रिया चल रही है और आसपास के गाँवों में शहरीकरण के लिए भी सतत प्रयत्न हो रहे हैं। गाँवों में शहरीकरण के कारण खेती वाली जमीन घट रही है और लोग अब खेती की जगह छोटे–मोटे उद्योगों से जुड़ने लगे हैं।

शहरीकरण की इस प्रक्रिया से सामाजिक सोच और सांस्कृतिक चिन्तन की दिशा में परिवर्तन आया है। एक ओर मेट्रोपॉलिटन शहरों में अलग–अलग सोच, विचार, संस्कृति और भाषा वाले लोगों को आपस में संवाद करने का अवसर मिला है लेकिन दूसरी ओर मॉल की संस्कृति ने देशी वस्तुओं और कलाओं पर उपभोक्तावाद का रंग चढ़ा दिया है। नव शहरीकरण के दौरान सड़कों, फुटपाथ, खुली नालियों आदि की बदहाली बनी रहती है। दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, चेन्नई जैसे मेट्रोपॉलिटन शहरों में खुदाई के काम कभी रुकते ही नहीं हैं। गड्ढों के कारण सड़कें अवरुद्ध हो जाती हैं। जाम की समस्या से जूझते लोग नित नई समस्याओं का सामना करते हैं। इससे न तो पुराने सौंदर्य बने रहते हैं और न नई व्यवस्था लोगों के लिए अनुकूल हो पाती है। समकालीन उपन्यासों में शहरवासियों के इस दर्द को महसूस किया जा सकता है। 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में अलका सरावगी कहती हैं– "यह तो सच था कि कलकत्ता में हर समय कुछ–न–कुछ खुदाई चलती रहती थी। शुरुआत सत्तर के दशक में हुई होगी, जब भूमिगत मेट्रो रेल के लिए खुदाई का काम शुरू हुआ। तबसे यह खोदना रुका नहीं था।... फिलहाल फ्लाईओवर ब्रिज बनने के लिए शहर खोदा जा रहा था या फिर पुरानी नालियाँ–ड्रेनपाइप बदलने के लिए। कलकत्ता ऊपर से गाड़ियों से जाम था और

जमीन के नीचे तीन सौ से ज्यादा सालों के कूड़े–कीचड़–मल से। जब–तब जहाँ–तहाँ खोदनेवालों में बिजली सप्लाई और टी.वी. या मोबाइल कनेक्शनवाले भी थे, जो फुटपाथ खोदते और उनके बीच में आनेवाली सड़कें भी। अक्सर ये लोग सड़क के इस पार से उस पार तक तार फेंक देते और उन्हें बिजली के खम्भों पर गोल–गोल गुच्छों में लटका देते। इन तारों पर गौरैया और बुलबुलें झूलती रहतीं। धरती क्या, इस शहर का आकाश भी खोदा हुआ था" ।

अंबानी, अडानी, रतन टाटा आदि आज वैश्विक स्तर के उद्योगपति हैं। निजीकरण की प्रक्रिया ने बड़े–बडे उद्योगपतियों के हाथों में चिकित्सा, शिक्षा, रेलवे, एयरपोर्ट आदि को सौंपकर इन्हें भी औद्योगिक क्षेत्रों में बदल दिया है। आज आधुनिक प्रौद्योगिकी के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जाता है जिससे वैश्विक समस्याओं में वृद्धि हो रही है। ग्लोबल वार्मिंग से विश्व परेशान है, भू–स्खलन की समस्या निरंतर बढ़ रही है, पहाड़ कट–कटकर गिर रहे हैं, ग्लेशियर निरंतर पिघल रहा है। पर्यावरण की प्रतिकूलता से लोग सांस, आँख, हृदय आदि से संबंधित रोगों के शिकार होने लगे हैं। औद्योगीकरण से एक नई संस्कृति का विकास हुआ है।इससे मनुष्य एवं प्रकृति में शोषक और शोषित का संबंध निर्मित हो गया है।

आज सूचना भी उद्योग में बदल गई है जिससे विज्ञापन के द्वारा समाज में पश्चिमी संस्कृति के लिए आकर्षण बढ़ रहा है। ऑनलाइन सेवा ने आज घर बैठे सभी चीजें उपलब्ध करानी आरंभ कर दी है, जिससे छोटे–छोटे व्यापारियों का जीवन संकट में पड़ने लगा है। समकालीन उपन्यासों में भी ऐसी स्थितियों का चित्रण मिलता है – "तो यह वह उत्तर आधुनिक समय है जब छोटे–छोटे शहरों में वेलेंटाइन डे मनाया जा रहा है और न्यू इयर ईव के लिए भुच्च पिछड़े कस्बों में भी टीवी विज्ञापनों की बदौलत केक और आर्चीज के कार्ड की बिक्री बढ़ गयी है" ।

नव औद्योगिकीकरण ने समाज में पूँजीपतियों और आम आदमी के बीच आर्थिक दृष्टि से काफी दूरी बढ़ा दी है। एक ओर किसान आत्महत्या कर रहे हैं, छोटे व्यापारों की दुकानें सिमट रही हैं, किसानों की जमीन अधिग्रहित करके कार निर्माण, फैक्टरी, बच्डे–बड़े उद्योगों, मॉल आदि की स्थापना के कारण आज जीवन शैली बदल रही है। समाज और संस्कृति में भी परिवर्तन होने लगा है।आज एक ओर ऐसे उद्योगपति हैं, जिनके सारे सपने साकार हो रहे हैं और दूसरी ओर अर्थाभाव के कारण मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के सपने निरंतर टूट रहे हैं। महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं होने के कारण तनाव, अवसाद, कुंठा आदि में वृद्धि का होना स्वाभाविक है। समकालीन उपन्यासों में इन्हीं परिवर्तित स्थितियों की विषमता का मार्मिक चित्रण मिलता है– "कल तक जो जमीन सबसे महंगे इलाके में पच्चीस लाख रुपए कट्ठे में बिक नहीं पा रही थी, उसी का दाम दो से अढाई

करोड़ रुपये कट्ठे का हो गया था। कोई ऐसी गली नहीं थी जिसमें पुराने मकान टूटकर नए मकान न बन रहे हों। कलकत्ता शहर के अन्दर जिन इलाकों में बड़े–बड़े कारखाने हुआ करते थे, वहाँ आकाश को छूती शानदार मल्टीस्टोरीज बिल्डिंग खड़ी हो रही थीं। विराट शॉपिंग मॉल बनाने की घोषणाएँ की जा चुकी थीं। राजारहाट में न्यू कोलकाता के लिए सपाट खड़ी जमीनों पर बड़े–बड़े काँच की दीवारों वाले मकान खड़े होने लगे थे। ऐसा लग रहा था कि न्यू कोलकाता सिंगापुर जैसा बन जाएगा" ।

नव औद्योगिकीकरण ने भारत की आर्थिक स्थिति की दशा और दिशा बदल दी है। पहले कृषि व्यवस्था भारत की आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ थी, लेकिन अब कृषि योग्य भूमि भी मल्टीनेशनल कंपनियों या मॉल के निर्माण के लिए प्रयुक्त होती है। दिल्ली, मुंबई, कोलकाता और चेन्नई जैसे महानगरों एवं मेट्रोपोलिटन शहरों में मजदूर आज भी फुटपाथ पर तंबुओं में रहते हैं और अपने जीवन को मल्टी नेशनल कंपनियों या बहुमंजिली इमारतों को बनाने में होम कर देते हैं। उनकी जिन्दगी में सुरक्षा की कहीं कोई गारंटी नहीं है। कोरोना काल में प्रवासी मजदूरों की जिन्दगी में जिस तरह का तूफान आया और भूख, प्यास एवं दुर्घटना के शिकार कई मजदूरों का जिस तरह से करुण अंत हुआ, उससे शहरों के सौंदर्यीकरण का दायित्व निभा रहे ठेकेदारों, पूंजीपतियों आदि को कोई अंतर नहीं पड़ा क्योंकि उन्हें यह ज्ञात है कि कुछ मजदूरों के अंत से उनके प्रोजेक्ट के कार्य किसी भी तरह से बाधित नहीं होंगे।भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास 'बसंती' में महानगरों में बस्ती के उजड़ने और रोजगार की तलाश में महानगर आई बसंती के माध्यम से झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले श्रमिकों के जीवन की त्रासदी का जो चित्रण किया है, वह 21वीं सदी के कई उपन्यासों में और भी करुणा और व्यंजना के साथ उभरकर सामने आया है। अब उपन्यासों में उनके लिए केवल संवेदना ही दिखाई नहीं पड़ती है, बल्कि उनकी अस्मिता और उनके स्वत्व के लिए चिन्ता भी दिखाई पड़ती है– "एक बार राजधानी में यूनिवर्सिटी के पास झुग्गी–झोंपड़ियों वाली बस्ती में गया था। वहाँ इनसान तो थे, लेकिन उनके चेहरे गायब थे। उनका कोई नाम नहीं था। पहचान ही गायब हो गई थी। बे–चेहरा लोगों को देख में बहुत ही डर गया था, महोदय। दौड़कर वहाँ से भागा" ।

आज का शहर सचमुच बदल गया है। यहाँ एक ओर प्रगतिशीलता है तो दूसरी ओर अंधविश्वास और तंत्र–मंत्र भी है। एक ओर यहाँ मल्टी नेशनल कंपनियाँ हैं, उत्तर आधुनिक सोच हैं, तकनीकी विकास है, सूचना–तंत्र का बोलवाला है, अमेरिकन संस्कृति है, उपभोक्तावाद और बाजारवाद है तो दूसरी ओर मध्यकालीन नियतिवाद भी पैर जमाए खड़ा है। आज के शहर में ठेले पर ठंडा पेय, लस्सी, ब्रेड पकौड़े आदि बेचने वाले गरीब हैं, तो बड़े–बड़े कीमती मोबाइल पर सोशल मीडिया का आनंद उठातेधोबी और सब्जीवाले भी हैं। यहाँ

छोटे–छोटे बच्चे भी ऑनलाइन क्लास करते हैं, गूगल कर अपना होमवर्क करते हैं और टेलीविजन एवं यू–ट्यूब पर भविष्यवाणी करने वाले भी अपनी आमदनी बढ़ाते हैं। कई बाबाओं की यहाँ दरबारें लगती हैं और सबकी दुकानें अच्छी तरह चलती हैं। "इक्कीसवीं सदी में एक तरफ कम्प्यूटर और मोबाइल हर धोबी–सब्जीवाले और दूधवाले के पास है और बच्चे 'गूगल' कर अपना होमवर्क कर रहे हैं, पर टी. वी. में बेजान दारुवाला ग्रह–नक्षत्रों की बात कर न जाने कितने पैसे कमा रहा है। अखबारों में विज्ञापन भरे पड़े हैं जो आपकी हर समस्या को तंत्र–मंत्र–रत्न से एक दिन में सुलझाने का दावाकर रहे हैं। इस देश में इन सबकी दुकानें बेधड़क चल रही हैं..." ।

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' और 'गोदान' में जिस तरह के शहर को देखा है, वह शहर अब अपने स्वरूप में पूरी तरह बदल गया है। कई दृष्टि से वह काफी आगे बढ़ गया है। आज के उपन्यासों में जिन शहरों या महानगरों का चित्रण है उनमें अब उत्तर आधुनिकता का प्रवेश हो गया है, भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण से निर्मित वैचारिकी यहाँ साफ–साफ दिखती है। जीवन की शैली पूरी तरह बदल गई है। स्त्री–मुक्ति आंदोलन, दलित–विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि में मुक्ति के प्रश्न कम, राजनीति अधिक दिखने लगी है। तलाक की समस्या बढ़ने लगी है, निष्ठा न घर के लिए है, न माता–पिता के लिए है और न किसी कंपनी या संस्था के लिए है। अब युवाओं की दृष्टि नौकरी में पैकेज पर रहती है। उपभोक्तावाद उनके जीवन में इस तरह घर कर गया है कि अब अधिकांश वृद्धों के लिए घर में जगह नहीं रह गई है, वे अब वृद्धाश्रम में रहने के लिए विवश हैं। जो घर में रहते हैं, उनका आत्माभिमान हर पल खंडित होता है या फिर उन्हें अकेलेपन की पीड़ा के साथ ही जिन्दगी व्यतीत करनी पड़ती है– "मां ने कहा, इसको भी ले जाओगे तो हम दोनों बिल्कुल अकेले रह जाएंगे। वैसे ही यह सीनियर सिटिजन कॉलोनी बनती जा रही है। सबके बच्चे पढ़ लिख कर बाहर चले जा रहे हैं। हर घर में, समझो एक बूढ़, एक बूढ़ी, एक कुत्ता और एक कार बस यह रह गया है।'

आज का शहर वह शहर नहीं है, जिसका चित्रण गुरुवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने उपन्यास 'गोरा' में किया था–"किंतु तब भी इस इतने बड़े, पाषाण–हृदय, कामकाजी शहर कलकत्ता की सैकड़ों सड़कों–गलियों के भीतर स्वर्ण–रश्मियाँ आज मानो एक अपूर्व यौवन का प्रवाह लिए मचल रही है"। औद्योगिकीकरण ने शहरों का बाह्य रूप ही नहीं उसकी संस्कृति को भी परिवर्तित करना आरंभ कर दिया है। कहीं परंपराएँ टूट रही हैं, कहीं इनका पुनर्मूल्यांकन हो रहा है और कहीं परंपरा को लेकर द्वन्द्व की स्थिति है। भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण ने भारतीय परंपराओं और संस्कृति पर विदेशी संस्कृति की परतें चढ़ानी आरंभ कर दी है–"क्या पता, कभी कोई बड़ी कम्पनी विदेश से चलकर आये और इस पूरे

शहर के साथ–साथ बिसेसरगंज के इस इलाके पर कब्जा कर ले और यहाँ की तंग गलियों में बने दो–तीन–पाँच तल्लों वाले मकानों को गिराकर उनकी जगह साफ–सुथरे चमकते मॉल खोल दे, फूड बाजार बना दे और हम जो ये तरह–तरह के मसालों की गंध से भरे छींकते जा रहे हैं, उसे भूल जायें" !

समकालीन उपन्यासों में शहरों के विकास के परिप्रेक्ष्य में कई ऐसी स्थितियों का चित्रण मिलता है, जो कई दृष्टि से मनुष्य की बदली हुई जिन्दगी का संकेत देती है।आज के शहरों में कहीं कोई स्थिरता नहीं है, बल्कि ये शहर काफी तेज रफ्तार से आगे बढ़ते हैं। इस रफ्तार में यह नहीं देखा जाता है कि किसी को मौत मिली है या जिन्दगी, कौन ठठाकर हँस रहा है और कौन आँसू बहाने के लिए विवश है, कौन दौड़ रहा है और कौन अपाहिज बन गया है। दिल्ली जैसे महानगरों में तेज रफ्तार की स्थिति निरंतर बनी रहती है।

उपन्यासकार जब उपन्यास लिखता है तो उसका मुख्य उद्देश्य होता है– जीवन के यथार्थ का चित्रण करना और जीवन का यथार्थ बहुआयामी होता है। आज जिस रफ्तार से शहरीकरण हो रहा है, उसी रफ्तार से शहरों में अपराधों में वृद्धि भी हो रही है। आज अखबारों के पन्ने अपराधों से भरे रहते हैं, टेलीविजन पर अपराध को रोचक कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। आबादी बढ़ रही है, बेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है। कम समय और कम काम करके अधिक पैसे कमाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही हैं। बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं, दिशाहीनता, नकारात्मक सोच, राजनीति में अपराधीकरण आदि के कारण आज शहरों में काफी अपराध बढ़ गए हैं। शहरों में बढ़ रहे इन अपराधों के संबंध में प्रसिद्ध कथाकार उदय प्रकाश लोगों को सचेत करते हैं– 'यहाँ बहुत सावधानी और होशियारी से रहना है। शहर की ओर जाओ तो वहां किसी से पंगा लेने की कोशिश मत करो। अगर किसी सिनेमा हाल में टिकट भी खरीदो तो सौ या पाँच सौ के नोट जेब से मत निकालो। वहाँ बुकिंग विंडो में बैठने वाला आदमी ही नहीं, पनवाड़ी और चाट वाले तक अपराधियों के एजेंट हैं। अगर शक हुआ कि तुम किसी पैसे वाले आसामी के लड़के हो, तो किसी भी दिन हॉस्टल आकर तुम्हें उठाकर ले जाएँगे। हर साल दर्जनों एब्डक्शन के केस यहाँ होते रहते हैं। पुराना डकैत इलाका है। देवी सिंह, मलखान सिंह, मोहर सिंह, तहसीलदार सिंह... सारे के सारे डाकू इसी पट्टी में वारदात किया करते थे।" ('पीली छतरी वाली लड़की', पृ..18)

आज शहर और महानगर कंक्रीट के जंगल बन रहे हैं। वहाँ निर्माण का कार्य कभी रुकता नहीं है। यहाँ औद्योगिकीकरण, स्मार्ट सिटी, सौंदर्यीकरण आदि के नाम पर किसानों को कृषि योग्य भूमि को बेचने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। नव शहरीकरण के कारण एक ओर कृषि योग्य भूमि पर बहुमंजिली इमारतें बनने लगी हैं, दूसरी ओर शहरों में स्लम बस्तियों की कारुणिक स्थिति भी दिखाई देने लगी है, जिन्हें जब चाहे कॉरपोरेट के द्वारा बसा लिया जाता है और जब चाहे

उनकी बस्तियाँ ढहा दी जाती हैं। संजीव अपने उपन्यास 'फांस' में आज के शहरों की स्थितियों तथा खेतिहर जमीन के खत्म होने की प्रतिकूलता का चित्रण इस प्रकार करते हैं– "काम तो इन दिनों एक ही हैकृबालू, मिट्टी, ईंट या खाद की ढुलाई। सड़कों के किनारे सारी खेती वाली जमीनें बिक चुकी हैं। मकान बन रहे हैं। आने वाले दिनों में सिर्फ बिल्डिंगें होंगी, चमचमाती गाड़ियाँ होंगी। न हमारे तुम्हारे जैसे लोग होंगे, न खेती, न हमारी–तुम्हारी बैलगाड़ियाँ" ।

केवल हिंदी उपन्यासों को ही नहीं बल्कि दूसरी भारतीय भाषाओं के भी उपन्यासों को यदि हम देखें तो महानगरों और शहरों की स्थितियाँ और विडंबनाएँ एक ही तरह दिखाई देती हैं। शान्तिनाथ देसाई कन्नड़ के उपन्यासकार हैं। उनका 'बीज' उपन्यास हिंदी में 'अपनी जमीन' के नाम से अनूदित हुआ है। उसमें वे कहते हैं–"बंबई में यदि पैसा हो तो कोई भी कार्य करना आसान होता है। फोन से संबंधित एजेंटों को बता दिया जाए तो सारी व्यवस्था अपने आप हो जाती है"। दिल्ली, कोलकाता आदि महानगरों में अब दुकान जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल एक एप डाउनलोड करके ही हम घर बैठे सारी व्यवस्था कर सकते हैं और अपनी आवश्यकता के लिए सामग्री जुटा सकते हैं। शान्तिनाथ देसाई यदि कहते हैं कि "बंबई में आकाश ही दिखाई नहीं देता। आकाश देखना हो तो माथेरान जाना पड़ता है" तो नव शहरीकरण के कारण दिल्ली, गाजियावाद आदि की स्थिति भी ऐसी ही होती जा रही है।

आज विकास तो काफी हुआ है। मॉल, मेट्रो, एयरपोर्ट, चौड़ी सड़कें, पानी, चिकित्सा, विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि के कारण काफी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, लेकिन हिंसा, नारेबाजी, संवेदनहीनता, मूल्यहीनता, स्वार्थपरकता आदि के कारण काफी प्रतिकूल स्थितियाँ भी निर्मित हुई हैं, जिनसे शहर का जीवन काफी सरल नहीं है। दिन भर की आपाधापी, अजनबीपन और संबंधों के विस्थापन के कारण जिन्दगी की तल्खी की गूँज भी समकालीन उपन्यासों में हर जगह सुनाई पड़ती है।

संदर्भ–ग्रंथ :
पुस्तक– 21वीं सदी में भरतीय अर्थव्यवस्था, लेखक–विमल जालान, प्रकाशक–प्रभात प्रकाशन, संस्करण–2005, पृष्ठ–16
वही, पृ.–20–21
वही, पृ. 10–11
पीली छतरी वाली लड़की, पृ.–22
जानकीदास तेजपाल मैनशन, पृ.–182

■

शिवमूर्ति की कहानी

'केशर कस्तूरी' में यथार्थवाद

कृष्ण देव/डॉ0 रश्मि जैन*

केशर कस्तूरी ग्रामीण जीवन यापन कर रही उन तमाम महिलाओं के संघर्ष की गाथा है जो पितृसत्ता में विरोध न कर पाने की स्थिति में परिस्थितियों के आगे झुक जाती है और उसी को अपना भाग्य समझ लेती है बजाय इसके की उनके भीतर कई प्रतिभाएं ऐसी होती है कि वह गरीबी से निकल सकती है, लेकिन ससुराल में लोक लाज के नाम पर उन्हें दबा दिया जाता है। आज इस कहानी को हम प्रासंगिकता के दायरे में इस लिए लाते है क्योंकि साहित्य में मध्यवर्ग की महिलाएं लोकलाज नामक शोषण की शिकार आज भी है और घुटन भरी जिन्दगी जी रही है। केशर कस्तूरी निम्न मध्य वर्ग की कहानी है। केशर के मौसा संम्पन्न है लेकिन पिता गरीब है। प्रस्तुत कहानी उस सामाजिक व्यवस्था पर चोट करती है जो पितृसत्तात्मक समाज की मन मानी व्यवस्था की ओर इशारा करते है केशर के पिता बेटी की शिक्षा के बिलकुल खिलाफ होते है। विवाह के साथ होते है और मौसा उस गरीबी से निकलने के लिए शादी तोड़ने का प्रस्ताव केशर के समक्ष रखते है। दोनों ही स्थितियां केशर को उचित नही लगती। शिवमूर्ति ने कहानी में नये प्रश्नों को उजागर किया।

प्रस्तावना : शिवमूर्ति अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए दिखते है। यथार्थ से तात्पर्य है जो जैसा है उसे वैसा ही लिख देना। हिन्दी में यथार्थवाद अंग्रेजी के रियलिज्म के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। शिवमूर्ति की कहानियां इस यथार्थ को खोजने के क्रम में अन्य कई तरह से स्त्री प्रतिरोधों को सामने लाती हैं केशर कस्तूरी कहानी मे केशर के मौसा जब उसके पति को गैर जिम्मेदार बताते हुए उसके दूसरे विवाह का प्रस्ताव रखते हैं, जिसके पीछे सिर्फ यह कारण है कि वह कमाता नहीं है, तो केशर उनका खुलकर विरोध करती है यह सिर्फ उस समाज के लिए नहीं है, बल्कि पूरी व्यवस्था के लिए चुनौती है वह पूछती है कि क्या कमाना ही मनुष्य का जीवन आधार है? केशर अपने पिता के घर जाने से की इनकार कर देती है। यह ग्रामीण जीवन के सच्चे यथार्थ का चित्रण है जो शिवमूर्ति की कहानी में देखने को मिलता है। केशर के जीवन की कठिनाइयां उसके हुनर को निगल जाती है। जो केशर

❖ संपर्क : एस0आर0 के पीजी कॉलेज, फिरोजाबाद।/शोध निर्देशक, एसोसिएट प्रो0 (हिन्दी विभाग), एस0आर0के0पी0जी0 कॉलेज, फिरोजाबाद।

हंसती–खिलखिलाती पूरे महौल को खुशनुमा करके रखती थी वही केशर शादी के बाद चारों ओर से कठोर संघर्षों से घिर जाती है।

यथार्थ की यह कहानी यथार्थ और आदर्श दोनो के बीच घिरी नजर आती है यह दोनो विरोधी विचारधारा केशर के कर्त्तव्यों के आड़े आती है। यथार्थवाद संसार में व्याप्त कलुश और मलिनता पर पर्दा नहीं डालता, अपितु उसका यथार्थ चित्रण करता है। वह मानसिक सत्य को यथार्थ नही मानता, अपितु जगत में व्याप्त कुण्ठा, निराशा, वर्जना अनास्था का ही यथार्थ चित्रण करने में विश्वास करता है। साहित्य में आदर्श पर अधिक बल नही दिया गया बल्कि यथार्थ को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है। जो जैसा है उसे वैसा ही प्रस्तुत करने पर अधिक बल दिया गया है। इस कारण साहित्य में अधिकांश यथार्थ ही दिखाई देता है।

कथा वस्तु – नारी जीवन का यथार्थ उसके जीवन की स्थिति पर निर्भर करता है कस्तूरी जब अविवाहित थी तब की स्थिति और जब विवाह हो गया तब की स्थिति दोनों में जमीन आसमान का अन्तर आ जाता है। हर समय हसी–मजाक करने वाली कस्तूरी दुःख और निराशा के घने अंधेरों मे घिर जाती है। अपनी समस्याओं से उबरने के प्रयास में वह और भी ज्यादा असफल होनी चली जाती है। इसका कारण स्वयं केशर नही है बल्कि केशर के पिता द्वारा दिया गया उनका वचन है जिसका खामियाजा उसे भुगतान पड़ता है। यह कहानी के दुष्परिणाम को भी प्रस्तुत करती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था है। जिसमें परिवार में पुरुष की सत्ता होती है। उन्हें परिवार के अलावा समाज में भी उच्च माना जाता है।

राजनैतिक नेतृत्व, नैतिक अधिकार, सामाजिक सम्मान, संपत्ति का नियंत्रण की भूमिकाओं में प्रबल होते है। परिवार के क्षेत्र में पिता या अन्य पुरुष महिलाओं और बच्चों के ऊपर अधिकार जमाते हैं। इस व्यवस्था में स्त्री तथा पुरुष को समाज द्वारा दिये गये कार्यों के अनुसार चलना पड़ता है। धर्म, समाज व रूठिवादी परंपराएं पितृसत्ता को अधिक ताकतवर बनाती हैं। सदियों से महिलाएं पितृसत्ता के कारण उत्पीड़ित हो रही हैं। पिता ही घर के ठेकेदार होते हैं पिता से ही घर होता है। उसी प्रकार इस कहानी में पितृसत्ता के प्रभाव के रूप में देखा गया की केशर के पिता के वचन के कारण उसे एक गरीब परिवार मे शादी करनी पड़ी। केशर के मौसा इस शादी के खिलाफ थे लेकिन वचन के आगे कुछ न कर सके। केशर के मौसा उसे पढ़ाना चाहते थे लेकिन पिता के हट के आगे किसी की भी नही चल सकी। ''स्कूल में पढ़ने वाले लड़के के साथ यह शादी भी वे तीन साल पहले कर रहे थे, जिस साल केशर ने दर्जा पाँच पास किया था। लेकिन हम लोगों के मना करने और केशर को आगे पढ़ाने के लिए दबाव डालने के कारण तीन साल के लिए टाल दिए थे। लेकिन दर्जा आठ से आगे पढ़ाने के लिए वे किसी तरह राजी नहीं हुए। इस मामले में उनका तर्क था कि तीन मील दूर के स्कूल में सयानी लड़की को अकेले पढ़ने भेजना निरापद नहीं है। गांव में जातीय विदवेश

दिनो–दिन इतना प्रबल हो रहा है कि कभी भी कुछ अघटनीय घट सकता है। शादी के बारे में भी उनका अपना मौलिक तर्क था। उनके अनुसार बाल–विवाह प्रथा में मात्र इतना अंतर आया था कि पहले जहां शादियां सात–आठ साल की उमर में हो जाती थी, अब पंद्रह–सोलह साल की उमर में हो रही है। जिस लड़के का बाप बहुत टालता है, उसकी शादी भी हाईस्कूल पास करते–करते हो जाती है। ऐसे में बेटी को कुंवारी रखने पर बाद में लड़के कहां मिलेंगे? और कुंवारी रखने का उद्देश्य भी क्या हैं? लड़की के भाग्य में होगा तो वही लड़का पढ़–लिखकर कहीं हिल्ले से लग जाएगा। नहीं तो अच्छा घर वर देखकर कर रहे हैं। डेढ़ एकड़ खेती है।

बड़ा भाई कानपुर में कमाता है। मंझला खेती–बाड़ी देखता है। सास–ससुर जिंदा है। गाय–भैंस है। शाम तक दो रोटी मिलेगी और क्या चाहिए?'' केशर के पिता तत्कालीन परिस्थियों के चलते सही सोच रहे थे। समाज में लड़कियों का सुरक्षित वातावरण नहीं मिल रहा था शिक्षा व्यवस्था दूर थी, रोजगार के साधन कम थे और अनुमति भी नहीं के बराबर थी, जो पढ़ा लिखा वर्ग था वह तो शिक्षा पर बल देता था या शहरी क्षेत्रों में शिक्षा पर बल दिया जाता था लेकिन ग्रामीण और अशिक्षित वर्ग द्वारा पूरी तरह मनाही ही थी वरना केशर जैसी सुन्दर, सुशील, समझदार, तेज और हंसमुख लड़की के लिए केशर के मौसा क्या न करते। शिवमूर्ति अपनी कहानी में केशर के विषय में बताते हैं – हॅसोई इतनी कि पत्नी कभी–कभी उसकी हॅसी से आतंकित हो उठती है। उदास होने पर बिसूरने की बात पर भी हॅसी। कभी–कभी तो हॅसी के लिए पत्नी की मार खाने के दौरान भी मुँह में दुपट्टा ठूँसकर हँसती रहती है। हँसी से झुलकती डेट। हारकर पत्नी की डाँटना–मारना पेड़ हँसने लगती है। हँसमुख और व्यावहारिक होने के साथ–साथ केशर के हिस्से में अपूर्व सुंदरता भी आई है। घर से लेकर पास–पड़ोस तक की बच्चियाँ उफ उसकी सुन्दरता का जादू छाया हुआ है। लड़कियाँ उसके बाल, दाँत, आँख और हँसी की तुलना अलग–अलग अभिनेत्रियों से करती हैं।'' इन सब कारणों के चलते केशर के मौसा चाहते थे कि केशर की शादी टूट जाये क्योंकि उसकी योग्यता अनुसार विवाह नहीं हो पाया था ससुराल में मिले कष्टों और गरीबी ने केशर की सुंदरता और हँसी को निगल लिया था। केशर के मौसा उसकी गरीबी से दुःखी हो जाते थे। जीवन का यह यथार्थ रूप शिवमूर्ति को ग्रामीण यथार्थ से जोड़ता है। वह लिखते हैं किस प्रकार उस समय बेरोजगार पति का रोजगार पाना उसकी पत्नी के भाग्य पर निर्भर रहता था उसे हम भाग्यवादी परम्परा भी कह सकते हैं। जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों मे ज्यादा और शहरी क्षेत्रों में कम लेकिन दिखाई जरूर देती है। अपनी कहानी में शिवमूर्ति केशर की मौसी के माध्यम से इस विषय में कहलाते हैं कि – ''क्या–क्या सोचते रहते हैं आप?'' पत्नी ने एक बारगी घुड़क दिया, ''उस लड़के में क्या खोट है? यही न कि कम कमाता है। केवल इतनी बात पर कोई लड़की अपने बियाहे आदमी को छोड़ देगी? अभी तो वे दोनों एक–दूसरे से मिल भी नहीं पाए हैं। केशर सुनेगी तो क्या

सोचेगी? हम लोगो की शादी हुई तब तक तो आप स्कूल जाना भी नहीं शुरू किए थे। मेरे गौने के बाद भी बहुत दिनों तक बेकार मारे–मारे घूमते थे। उस समय के आपके घर की माली हालत तो केशर की ससुराल से भी गई गुजरी थी। तब कोई मुझसे दूसरी शादी के लिए कहता तो मुझे अच्छा लगता''। लेकिन केशर के मौसा दूसरे विवाह का प्रस्ताव उसके समक्ष जरूर रखते हैं और केशर द्वारा इस बात का विरोध भी किया जाता है। यह सिर्फ उस समाज के लिए नहीं है, बल्कि पूरी व्यवस्था के लिए चुनौती है, वह पूछती है कि क्या कमाना ही मनुष्य का जीवन यापन का आधार है? केशर अपने पिता के घर जाने से भी मना कर देती है। केशर कठिन से कठिन परिस्थियों में हार नहीं मानती और पूरे साहस के साथ मेहनत मजदूरी करके अपने पूरे परिवार का भरण पोषण करती है। उसके साहस और मेहनत को देखकर उसकी सास भी कहती है शिवमूर्ति कहते हैं – यह केशर नहीं, केशर के रूप में मूर्त हिंदुस्तानी नारी का हजारों–हजार पीढ़ियों से विरासत में मिला अनुभव और यथार्थ को उसके ठोस व्यावहारिक रूप में पकड़ लेने की उसकी अंतःचेतना बोल रही थी। इस हकीकी दर्शन को सहसा किसी किताबी तर्क से काटने का दुस्साहस संभव नहीं था। केशर के मौसा द्वारा किया गया कोई भी प्रश्न को केशर अपने तर्क शक्ति और कर्म शक्ति से काट देती थी, जैसे उसे किसी से कोई शिकायत ही नहीं, अपने भाग्य को होनी समझ निभाने की कला में निपुण केशर भोगती जा रही थी हर स्थिति को। वह जानती थी जो परम्परा सदियों से चली आ रही है उसे तोड़ा नहीं जा सकता और तोड़े भी तो इतना आसान कहां। वह अपने मौसा को पापा कहती है यह भी एक परम्परा ही है कि परिवार का जो व्यक्ति सरकारी नौकरी या किसी व्यवसाय की वजह से सम्पन्नता पा लेता था वह पूरे गांव या नातेदारी में पूज्यनीय बन जाता था और सबका मुंह बोला पिता भी बन जाता था केशर कहती है – अरे नहीं, पापा।'' केशर ने ताजी सिकी पूड़ी मेरी थाली में डालते हुए कहा, ''मेरी सोच मैं अपनी देह न गलाइमा। जितने दिन आपकी बारी–फुलवारी मे खेलना–खाना बदा था, खेले खाए। अब मेरा हिस्सा मुझे 'अलगिया' मिल गया है। तो जैसा भी है, उसे भोगना होगा खेना होगा। माँ–बाप जनम के साथी होते हैं पापा। करम–रेख तो सभी की न्यारी है। जब जनक जैसे बाप जो राजा भी थे और बरम्ह ग्यानी भी जिनकी इतनी औकात थी कि सौ बेटी दामादों को घर जमाई रखकर उमर भर खिला सकते थे – तीन लोक के मालिक से बेटी ब्याहकर भी उमर भर उसे सुखी देखने को तरस गए तो हम गरीब लोगों की क्या औकात? फ्रेशर ज्यादा पढ़ी लिखी न होने पर भी बातें इतनी गम्भीर करती थी मानों बड़े–बड़े ज्ञानी भी ज्ञान पा ले।

शिवमूर्ति इस कहानी में केशर के दुःख की तुलना सीता से करते नजर आते हैं वह लिखते हैं कि – सीता को गर्भावस्था मे पुनः बनवास हो गया है। लक्ष्मण उन्हे धोखे से जंगल मे छोड़ आए है। राजा जनक को खबर मिलती है तो अधीर हो जाते हैं। तुरंत रथ लेकर मंत्री जी को भेजते हैं – जाकर जनकपुर लिवा लाइए। कहना तुम्हारे माँ–बाप का रोते–रोते बुरा हाल है।'' इस प्रसंग से सिद्ध

होता है कि सीता भी ग्रामीण जीवन की कठिनाईयों से गुजरी है वह भी विवश थी अपने प्रति हो रहे अत्याचार को सहने के लिए। और एक यह भी बात की अपने दोनों परिवार की लोक लाज को बचाने के लिए सीता और कस्तूरी जैसे तमाम नारी प्राचीन काल से आज तक जीवन की जटिलताओं को, अन्याय को बर्दाश्त करने के लिए मजबूर है। यही सामाजिक जीवन का सच्चा व्यथार्थ है जो शिवमूर्ति के कथा साहित्य में दिखाई देता है। साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को यथार्थवाद का जनक कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक यथार्थवाद सामाजिकता से सम्प्रवत हो चुका था। यथार्थवाद की विशेषताओं के संदर्भ में वे कहते हैं कि यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर दृष्टिपात। जन–साधारण अभाव और वास्तविक स्थिति तक पहुंचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।''

निष्कर्ष – शिवमूर्ति स्त्री जीवन की समस्याओं को बताते हुए ग्रामीण परिवेश पर अपने कथा साहित्य में समग्रता के साथ गंभीर चिंतन करते हुए नजर आते हैं वह छोटी सी छोटी समस्या जो नारी जीवन को गहराई तक तहस–नहस करती है पर विचार करते हैं। केशर–कस्तूरी कहानी में उन्होने केशर के जीवन में आये बड़े परिवर्तन, और उसके दोनों रूप जिसमें एक रूप वह खिलखिलाती और हँसती रहती है उसके रूप की, सुन्दरता की तारीफ करते हैं। वही जीवन के दूसरे रूप यानि विवाह पश्चात् कैसे गम्भीर और समझदारी के साथ अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लेती है। अपने कष्टों को सहकर उनसे लड़ती है कहीं कमजोर नही दिखाई देती, कहीं शिकायत करती नहीं दिखाई देती। बल्कि उसके स्थान पर वह अपने हिस्से की गरीबी का सामना करती है मेहनत मजदूरी करती हुई अपने पति और सास का इलाज कराती है और जीवन यापन करती है। यह कहानी एक नहीं बल्कि हजारों केशर के संघर्ष की कहानी है।

सहायक एवं सन्दर्भ सूची –

1. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
2. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
3. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
4. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
5. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
6. शिवमूर्ति – केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 2007
7. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द – बच्चन।
8. हिन्दी का गद्य साहित्य – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी सिंह।
9. शिवमूर्ति – सृजन का रसायन – राजकमल प्रकाशन दिल्ली संस्करण 2014।
10. प्रो0 श्यौराज सिंह बेचैन – ग्रामीण यथार्थ और शिवमूर्ति की कहानियाँ।

■

हरिशंकर परसाई

सामाजिक चेतना और व्यंग्य के कहानीकार

अनुपमा कुमारी*

हिंदी साहित्य में नयी कहानी की विकास यात्रा बीसवीं शताब्दी के छठे दशक से प्रारंभ होती है। यह कहानियाँ शिल्प और कथ्य दोनों ही दृष्टियों से पुरातन कहानियों से भिन्न है। वस्तुतः हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में उस समय जिन प्रयोगों की शुरुआत हुई उन सभी ने मिलकर नयी कहानी को जन्म दिया। इन कहानियों में विशेषकर जीवन के जटिल यथार्थ बोध को बड़े फलक पर उकेरा गया है। नयी कहानी में जीवन की प्रतिष्ठा पिता निर्विवाद रूप से हुई है। मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ, एकांकीपन, सत्रांस, सामाजिक मूल्यों का विघटन इत्यादि का यथार्थ चित्रण नयी कहानी की प्रमुख प्रवृतियाँ हैं। प्रो. धनंजय वर्मा ने नयी कहानी के भाव बोध के समर्थन में लिखा है– "जो संशय ग्रस्तता और व्यर्थता, जो संत्रास और निर्वासन, जो अजनबीपन और अकेलापन, जो मृत्यु–भय, ऊब और घुटन इन दिनों के वातावरण में फैली और फैल रही है, उसी का उद्‌घाटन इधर के कहानीकार पूरी बोल्डनेस के साथ कर रहे हैं।"[1]

नयी कहानी में स्वातंत्र्योत्तर भारत के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विद्रूपताओं को पूरी ईमानदारी के साथ कथाकारों ने चित्रित किया है। प्रजातांत्रिक मूल्यों के संबंध में हमारी धारणाएँ पूर्णतः काल्पनिक सिद्ध हुई है। गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा, जैसी समस्याओं ने भारतीय जनजीवन को पूरी तरह प्रभावित किया। एक ओर तो भारतीय जनता जहाँ मूलभूत सुविधाओं से वंचित थी, वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के विष ने भारतीय अखण्डता और एकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। नयी कहानी के प्रमुख हस्ताक्षर राजेन्द्र यादव ने देश विभाजन की त्रासदी को अपने शब्दों में यूँ बयां किया है– "देश विभाजन के समय हुए जनसंख्या के स्थानान्तरण, नरसंहार से नैतिक व सामाजिक मूल्यों का तीव्रगति से विघटन हुआ। विभाजन की अग्नि में राष्ट्रीय आस्था, आदर्श, विश्वास झुलस गयें, विघटनकारी प्रवृत्तियों का उन्मेष हुआ। पाकिस्तान में अगर ईंट–चूने के मकान, जमीनों का ध्वंस हुआ तो भारत में सारी मर्यादाओं, नैतिक मान्यताओं और अच्छे–बुरे की बड़ी इमारतें गिरने लगीं।"[2]

❖ संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद, संपर्क–anumpmakumari810@gmail.com

नयी कहानी की सबसे बड़ी पहचान उसकी बदलती संवेदना है जिसमें जीवन के संदर्भ हर नये दिन के साथ बदल रहे हैं। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार स्वतंत्रता के बाद भारतवर्ष का आन्तरिक स्वरूप परिवर्तित हुआ। उसी प्रकार उसका बाह्य स्वरूप भी परिवर्तित हुआ। नये कथाकारों ने विभिन्न विषयों को केन्द्र में रखकर अपनी सृजनात्मक शक्ति का परिचय दिया। नयी कहानी के कथाकारों को हम विषयवस्तु के अनुरूप दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं जिन्होंने मनोवैज्ञानिक और अस्तित्ववाद को केन्द्र में रखकर अपनी रचनात्मकता का परिचय दिया। इन साहित्याकारों में राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, निर्मल वर्मा आदि प्रमुख हैं। दूसरी सूची में वैसे साहित्यकार हैं जिन्होंने समसामयिक और आधुनिकता बोध को अपने लेखन की विषय–वस्तु के रूप में चुना। हरि शंकर परसाई का सम्पूर्ण साहित्य स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक और राजनैतिक विद्रूपताओं का सच्चा दस्तावेज है। परसाई रचनावली की भूमिका में श्याम कश्यप लिखते हैं– "स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन–यथार्थ के जटिलतम रूपों की पूरी गहराई और अत्यन्त सहजता के साथ भरपूर कलात्मक अभिव्यक्ति जिन लेखकों ने की है उनमें परसाईजी का नाम सर्वप्रमुख है। आजादी के बाद हमारे देश में सामाजिक चेतना के विकास में जिन लेखकों का जिक्र किया जाएगा, उनमें निर्विवाद रूप से हरि शंकर परसाई आगे होंगे।"[3]

नयी कविता की तरह नयी कहानी में भी बिम्ब, प्रतीकों, शैली, भाषा, सांकेतिकता आदि पर नवीन प्रयोग किये गए हैं। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है–"अभी तक जो कहानी सिर्फ कथा कहती थी या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार को झटका देती थी, वही कृत्य जीवन के प्रति नया भाव–बोध जगाती है। नयी कहानी में विषयों की विविधता के साथ–साथ शिल्प का नयापन भी विद्यमान है। उसमें प्रभावान्विती पर इतना जोर नहीं है जितना जीवन के संश्लिष्ट खण्ड में व्याप्त संवेदना पर है।"[4] नई कहानी में परसाई जी का पदार्पण वैसा ही था जैसे एक भरे सरोवर में अनेक गुलाबी कमलों के बीच एक सफेद कमल का होता है। कथा कहने का अनूठा अंदाज ही इन्हें बाकी कथाकारों सें विशिष्ट बना देता है। नयी कहानी धारा से अपने आप को मुक्त रखते हुए उन्होंने अपने रचनात्मक उद्देश्य और कलात्मक अभिव्यक्ति को ध्यान में रख कर कहानी कहने का एक स्वतंत्र मार्ग निकाला। सहज सरल भाषा में लिखी इनकी कहानियाँ एक तरफ जहाँ पाठकों को गुदगुदाती है वहीं सामाजिकता के संदर्भ से जुड़कर एक ठोस वैचारिक धरातल को पुष्ट भी करती हैं। श्याम कश्यप उनके कथा–साहित्य के सौंदर्य तत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं– "उनकी कहानियों का महत्त्व एक इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि हिन्दी कथा साहित्य में घनघोर रूमानियत के दौर में वही अकेले ऐसे कहानीकार नजर आते हैं जिनपर इस रूमानियत का हल्का भी असर नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत वे इस रूमानियत पर अपने तीखे व्यंग्य प्रहार करते हैं। यथार्थवाद का खुरदरा और पैना दृष्टिकोण एक क्षण के लिए धुँधला नहीं पड़ता।"[5]

साहित्य समाज में परिवर्तन लाने का एक सशक्त माध्यम है और इसका जितना सफल और सार्थक प्रयोग परसाईजी के हाथों हुआ उतना शायद उनके समकालीन अन्य साहित्यकारों द्वारा नहीं हुआ। परसाईजी के लिए साहित्य के उद्देश्य को बना सृजन के संपादकीय 'अपनी बात' (संपादक–पल्लव) की निम्न पंक्तियों के द्वारा समझा जा सकता है–"साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन कहें या शिक्षा या उसे स्वयं में ही उद्देश्य मानें लेकिन परसाई को पढ़ते हुए आप साहित्य के इन सभी उद्देश्यों को छोड़कर बेहतर मनुष्यता का सपना देख सकते हैं। मनुष्यता का ऐसा संसार जहाँ गरीबी न हो, छुआछुत न हो, मामूली लोगों का कदम–कदम पर अपने हक के लिए जूझना न पड़ता हो, घूस न देनी पड़ती हो, औरतों को औरत होने की सजा न मिलती हो–परसाई बताते हैं कि ऐसा संभव है। इसे संभव करने के लिए वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्व बताते हैं।"[6]

नयी कहानी के कालखंड में लिखी गयी इनकी रचनाएँ 'प्रहरी' पत्र में छपती थीं। इन कहानियों को परसाई रचनावली भाग दो में संकलित किया गया है। सन् 1960 तक इनके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। 'हँसते हैं रोते हैं' (1951),'तब की बात और थी'(1956)। पहले कहानी संग्रह की भूमिका के सदंर्भ में परसाई लिखते हैं–"इत्र और साहित्य को साथ रखकर बेचने वाली चौराहे की दूकान की पट्टी पर मैं रोज घंटे–दो घंटे बैठकर सामने सड़क पर से सतत प्रवाहमान जनजीवन को देखता हूँ।"[7] परसाई की कहानियों के पात्र किसी मानसिक अंतर्द्वंद्व के शिकार नहीं हैं बल्कि वे तो स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों के शिकार हैं। जिस लोकतंत्र का स्वप्न आम जनजीवन ने सजाया था, वह कल्पनाओं में ही रह गया। अवसरवादिता और स्वार्थपरकता की कलूश भावना ने मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर दिया। धूमिल की यह पंक्तियाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था पर कटाक्ष करती हैं–

"क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है,
जिन्हें एक पहिया ढोता है,
या इसका कोई खास मतलब होता है?"[8]

यह संवेदना केवल धूमिल की नहीं है, हरिशंकर परसाई की असंख्य कहानियों का मर्म भी यही है। हरि शंकर परसाई की प्रथम कहानी 'दूसरों की चमक–दमक' साप्ताहिक पत्र 'प्रहरी' में 23 नवंबर 1947 को छपी। बाद में शीर्षक को रूपांतरित करके 'पैसे का खेल' नाम से परसाई रचना वली में प्रकाशित किया गया। यह कहानी उनकी मार्क्सवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रमाण है।

परसाईजी समाज के दो वर्गों की आर्थिक असमानता को लक्षित करते हैं और यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि एक तरफ भूख की विभीषिका है तो दूसरी तरफ 'पैसे का खेल' है।' धोखा' शीर्षक कहानी में भी वे कल्पना और यथार्थ का सुन्दर समन्वय कर तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों पर प्रकाश डालते हैं। पंडित पोंगानाथ, दार्शनिक आकाश दर्शीजी, स्वर्ण गुप्त तैश्य सभी शासकवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। कहानी के अंत में यह शासकवर्ग बड़ी चतुराई से प्रजा में उठ रहे विद्रोही भावना का शमन कर देता है।

. "धन से शराब, जुआ, व्यभिचार, अत्याचार ही तो होता है, जो नर्क ले जाता है...

अरे, गरीब तो साक्षात् भगवान का स्वरूप है"[9]

'भीतर का घाव' प्रथम दृष्टया दहेज के विरोध में रची गयी रचना लगती है किन्तु लेखक ने इस कहानी के माध्यम से नारी की दयनीय स्थिति तथा समाज की दूषित मानसिकता पर भी प्रभाव डाला है। कपिल कुमार सिंह राघव इस संबंध में लिखते हैं– "किसी भी रचना को यह बल संवेदना की सघनता, रचनाकार की चेतना के जीवंत स्पन्दन और वैज्ञानिक चितंन से प्रखर हुई प्रज्ञा से मिलता है। वास्तव में इस कहानी में परसाई सच का केवल बखान ही नहीं करते, वे पाठकों को झकझोरते भी हैं। परसाई जिस तरह स्थितियों और मूल्यों को स्वयं देखते हैं पाठकों को भी उसी तरह देखने और समझने को उत्तेजित करते है।"[10] एक वैष्णव कथा' परसाई की बहुचर्चित कहानी है जिसमें उन्होने फैंटेसी का सहारा लेकर सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है।' भूख के स्वर' कहानी मई 1953 में 'प्रहरी' में छपी। कहानी का प्रारंभ ही व्यंग्यात्मक टिप्पणी के साथ होता है। हास्य में लिपटे उनके व्यंग्य हृदय को भावविभोर करते ही अकस्मात करुणात्मक अभिव्यक्ति में परिणत हो जाता है। भूख की पीड़ा का दंश परसाईजी ने स्वयं भी झेला था जब वह स्पेंस ट्रेनिंग कॉलेज में अध्यापन का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए खंडवा से जबलपुर की यात्रा किया करते थे। परसाईजी लिखते हैं– "भूख का एक स्वर होता है, चाहे वह कुत्ते की भूख हो, चाहे आदमी की भूख हो, भूख का स्वर पहचानने में आप कभी गलती नहीं कर सकते।"[11] यह कहानी नयी कहानी के दौर की सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है। इस कहानी के उद्देश्य को हम बहुआयामी कह सकते हैं। समाज में यह धारणा है कि प्रकृति ने पुरुष और नारी को गुणात्मक दृष्टि से भिन्न बनाया है। नारी ममता और करूणा की प्रतीक है वहीं पुरुष शौर्य और पुरुषार्थ का। परसाईजी यह मानते हैं कि यह मापदंड प्रकृति ने नहीं, बल्कि समाज ने जबरन बनाया है, तभी तो वह अपने पात्र रघुनाथ को दयनीय अवस्था में डालकर उसकी व्यथा को इस प्रकार व्यक्त करते हैं– "इसी समय रघुनाथ आया। आते ही उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। मैंने स्त्रियों के आँखो में आँसू देखे हैं– आपने भी देखें होंगे। स्त्री वैसे भी करुणा की सजीव प्रतिमा है। और अबला की विवशता और करुणा जब आँसू बनकर झरने लगती है तब हृदय को हिला देती है, यह सच है। परंतु पुरुष का रोना! पुरुषों की आँखो में आँसू? कहीं हजार गुणी विवशता, करुणा रहती है इनमें। ऐसा लगता है कि पौरुष टूक–टूक होकर, पिघल–पिघलकर बह रहा है। विश्व की शक्ति विधवा होकर मानो विलाप कर रही है।".[12]

'मैं नर्क से बोल रहा हूँ' परसाईजी की महत्वपूर्ण कहानियों में से एक है। यह कहानी उनकी मार्क्सवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रमाण है। इस कहानी के माध्यम से वह जन सामान्य को स्पष्ट संकेत करते हैं कि उन्हें जब माँगने से अपने अधिकार न मिले तो उसे छीन लेना चाहिए। वह अपने समय के पहले ऐसे कहानीकार थे जो भगवान के द्वारा क्रांति करवाते हैं। इसे इन पंक्तियों में देखा

जा सकता है– "मूर्ख कायर, तुकुत्ते से भी हीन है। बेचारा कुत्ता दीवाल को लाँघकर घुस गया और खाना खा आया। और तू आदमी कहलाने वाला हाय–हाय करके मर गया।"[13]

निष्कर्षतः हरिशंकर परसाई को नयी कहानी के दौर का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार कहा जा सकता है जिनका सृजनात्मक उद्देश्य बहुत स्पष्ट था। उनकी कहानियाँ प्रारंभ से लेकर अंत तक सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रेमचंद की तरह वह भी जनवादी साहित्य के प्रबल समर्थक थे। तत्कालीन आलोचकों की यह बहुत बड़ी चूक थी कि उनकी नजरें पर साईजी की कहानियों पर उस समय नहीं पड़ीं। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह को भी इसका अफसोस रहा है– "मुझे अफसोस है कि मेरा ध्यान परसाईजी पर उस हद तक नहीं गया। उनकी कहानियों की चर्चा नहीं कर सका। उन दिनों परसाईजी की इन ('भोला राम का जीव' 'भूत के पाँव पीछे, 'जैसे उनके दिन फिरे') कहानियों की ओर ध्यान जाना चाहिए था।"[14]

संदर्भ–ग्रंथ

1. कपिल कुमार सिंह राघव, हरिशंकर परसाई का व्यग्ंय साहित्य, राज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ.–159
2. कहानी के विविध आंदोलन एवं संवेदना, डॉ. श्रीरामवर को दिया, Journal of Modern Management & Entrepreneurship volume 10 october 2020.
3. परसाई रचनावली भाग–2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.–2
4. नामवर सिंह, कहानी : नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.–54
5. परसाई रचनावली भाग–2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.–2
6. बनासजन शताब्दी स्मरण, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, पृ.–5
7. परसाई रचनावली खण्ड–6, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.–233–234
8. हिन्दवी https:www.hindwi.org04.08.2024
9. वही पृ.–200
10. कपिल कुमार सिंह राघव, हरिशंकर परसाई का व्यग्ंय साहित्य, राज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ.–167–168
11. परसाई रचनावली खण्ड–दो, राजकमल प्रकाशक, नई दिल्ली, पृ.–229
12. वही पृ.–229
13. वही पृ. 240
14. कांति कुमार जैन, तुम्हारा परसाई, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.–88

■

सुभद्रा कुमारी चौहान
राष्ट्रीयता की प्रतिमूर्ति

डॉ. राकेश रंजन❖

हिन्दी साहित्य में ओज और शौर्य की कवयित्री के रूप में सुख्यात सुभद्रा कुमारी चौहान अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं। छायावादी काव्यधारा के समानान्तर चलनेवाली राष्ट्रीय काव्यधारा को पुष्ट करनेवाली वाग्देवी की पुत्री सुभद्रा कुमारी चौहान भारतीय नवजागरण और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में अपने तन, मन और जीवन के कण–कण को समर्पित कर अमरत्व को प्राप्त कर चुकी हैं। सच तो यह है कि सुभद्रा कुमारी चौहान का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक–दूसरे का पूरक है। कारण उनकी कथनी–करनी में एकरूपता है। उनका काव्य राष्ट्रीय शक्ति और अस्मिता का महत्तम प्रतिमान है।

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का उद्‌भव भारतेन्दु युग में होता है और विकास द्विवेदी युग में होता है। तदन्तर यह काव्यधारा अनेक रूपों में फैलकर बहुमुखी होती चली गयी और अपने उत्कर्ष की ओर अबतक बढ़ती रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन, सांस्कृतिक जागरण, सामाजिक सुधार एवं राष्ट्रोद्धार की व्यापक चेतना में यह काव्यधारा समा गयी और राष्ट्रीयता और मानवता के मंगल उद्‌घोष के साथ यह काव्यधारा विश्वव्यापिनी हो गयी है। इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रमुख कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान आदि का विशिष्ट स्थान है। इन कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीयता का शंखनाद विभिन्न रूपों में हुआ है।

सुभद्रा कुमारी चौहान (16 अगस्त 1904–15 फरवरी 1948) का जन्म प्रयाग जिले के निहालपुर गाँव में हुआ था। इनका विवाह मध्य प्रदेश के खंडवा निवासी ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान के साथ हुआ। ठाकुर साहब तत्कालीन स्वातंत्र्य आन्दोलन के प्रमुख सेनानियों में से एक थे। पति–पत्नी दोनों महात्मा गाँधी से काफी प्रभावित थे। सुभद्रा जी ने सन् 1921 ई0 में असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से अपनी शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी और ये राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगीं। अपने राजनीतिक कार्यों के कारण इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व एवं चिंतन का इनकी कविताओं पर भी प्रभाव पड़ा और ये राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रभक्ति की कविताएँ करने लगीं।

❖ संपर्क : हिन्दी विभागाध्यक्ष, एम0 डी0 डी0 एम0 कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार–842002, चलभाषः 9435413575, Email: rakeshranjancritic@yahoo.in

ध्यातव्य है कि बहुत छोटी अवस्था से ही सुभद्रा जी को हिंदी काव्य से प्रेम था जो बाद में जाकर पल्लवित–पुष्पित हुआ। इनकी कविताएँ 'त्रिधारा' और 'मुकुल' में संकलित हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं को '' भाव–दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में राष्ट्रप्रेम की कविताएँ रखी जा सकती हैं जिनमें इन्होंने असहयोग या आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले वीरों को अपना विषय बनाया है। इनकी 'झाँसी की रानी' कविता तो सामान्य जनता में बहुत प्रसिद्ध हुई है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे कविताएँ रखी जा सकती हैं जिनकी प्रेरणा इन्हें अपने पारिवारिक जीवन से प्राप्त हुई हैं। ऐसी कविताओं में कुछ तो पति–प्रेम की भावना से अनुप्राणित हैं और कुछ में सन्तान के प्रति वात्सल्य की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। इनकी भाषा शैली भावों के अनुरूप सरलता और गति लिये हुए है।''[1]

सुभद्रा कुमारी चौहान की काव्य–साधना मुख्य रूप से उत्कट राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। उनमें अपूर्व साहस और आत्मोत्सर्ग की ज्वाला धधकती है। हिन्दी काव्य जगत् में एक ऐसी वीरांगना कवयित्री हैं जिन्होंने अपनी आवाज से लाखों युवक–युवतियों को स्वतंत्रता संग्राम में आत्माहुति के लिए प्रेरित किया। स्वाधीनता उनके जीवन और साहित्य का उद्देश्य रहा। उनकी प्रमुख कविताओं में 'झाँसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो वसंत', 'राखी की चुनौती', 'विजयादशमी', विस्मृति की स्मृति, 'विदा' आदि में राष्ट्रीयता का तेज वर्तमान है।

वर्तमान को साधने के लिए अतीत का गौरव गान आवश्यक है। अतीत की पीठ पर वर्तमान दौड़ता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। सुभद्रा जी अतीत की गौरवगाथा द्वारा वर्तमान को झकझोरती हैं। 'झाँसी की रानी' कविता का प्रारंभ अत्यंत प्रभावोत्पादक है– ''सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी/बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी/गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी/दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी''[2]

यह कविता, कविता नहीं; क्रांति की मशाल बनकर सामने आयी। नवयुवकों के हृदय में आग बनकर धधक उठी। स्वाधीनता आन्दोलन को नयी डगर मिल गयी– ''महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगायी थी/यह स्वतंत्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी।''[3] सुभद्रा जी ने अतीत का उपयोग वर्तमान को प्रेरित, उत्प्रेरित करने के लिए किया है। प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन में महारानी लक्ष्मीबाई ने राष्ट्रीयता की चिनगारी जगायी थी। बलिदानों का इतिहास रचा था। सबकी प्रेरणा बनी थीं– ''हमको जीवित करने आयी बन स्वतंत्रता नारी थी/दिखा गयी पथ, सिखा गयी हमको जो सीख सिखानी थी।।''[4]

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ सुभद्रा जी के जीवन में भी दिखती हैं। यह अलग बात है कि इन्होंने यह बात महारानी लक्ष्मीबाई के लिए कही है।'वीरों का कैसा हो वसंत' कविता राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण है जिसमें अतीत की वीरगाथा के साथ वर्तमान को झंकृत करने की प्रेरणा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व लिखित इस कविता में सुभद्रा कुमारी चौहान ने राष्ट्र के वीरों का आह्वान किया है। उन्होंने एक प्रश्न उछाला है कि वीरों का वसंत किस रूप में हो; आज जब हम पूर्ण स्वतंत्र है; तब भी यह कविता प्रासंगिक है। यह कविता हमें राष्ट्र के

रक्षार्थ–सेवार्थ आत्माहुति चढ़ाने की सीख देती है। प्रश्न शैली में लिखित इस कविता में कवयित्री ने वीरों से पूछा है कि जब देश की मिट्टी पुकार रही हो, मातृभूमि अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवाज उठा रही हो, राष्ट्र के कण–कण से यही ध्वनि निकल रही हो; उस समय वीरों का क्या कर्तव्य होता है? वे वसंत को प्रिया की गलबाँही में बिताना चाहते हैं या नहीं? कवयित्री बतलाती है कि यह प्रश्न मात्र उनका ही नहीं है, हिमालय से लेकर हिंद महासागर तक तथा पूरब से लेकर पश्चिम तक सारा भारत वीरों से यही प्रश्न पूछता है– ''आ रही हिमालय से पुकार/है उदधि गरजता बारंबार/प्राची पश्चिम भू नभ अपार/सब पूछ रहे है दिग–दिगन्त/वीरों का कैसा हो वसंत?''[5]

कवयित्री ने यहाँ विरोधी परिदृश्य उपस्थापित कर राष्ट्रीय चेतना के रंग को गहरा किया है। उन्होंने 'वीरों का कैसा हो वसंत' कविता में वसंत का बड़ा ही मादक चित्र खींचा है। वसंत ऋतु के आते ही धरती नया शृंगार करने लगती है। कण–कण में उमंग और उल्लास छा जाता है। जन–जन का मन प्रिया से मिलने के लिए बेचैन और विह्वल हो उठता है। सर्वत्र राग–रंग का वातावरण छा जाता है। सरसों का रंग मन को मोह लेता है। अनंग मधु लेकर आ जाता है। वसुधा पुलकित हो उठती है। दूसरी ओर वीर शत्रु से लड़ने के लिए तैयार है। उसके हाथ में तलवार है। एक ओर प्रिया की बाँहें और सुंदर गर्दन हैं तो दूसरी ओर तलवार है। एक ओर चल चितवन है तो दूसरी ओर धनुष बाण है। वीरों को चुनाव करना है कि उन्हें क्या करना है? प्रिया के गले में बाँहे डालकर आनंद लिया जाए या रणभूमि में शत्रुओं के साथ तलवार से लड़ा जाय– ''गलबाँहीं हो, या हो कृपाण,/चल चितवन हो, या धनुष बाण,/हो रस विलास या दलित त्राण,/अब यही समस्या है दुरन्त/वीरों का कैसा हो वसंत?''[6]

इतना ही नहीं, कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने भारत के गौरवमय अतीत की कुछ भव्य झाँकियों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लंका, कुरूक्षेत्र, हल्दीघाटी, सिंहगढ़ आदि स्थानों का उल्लेख कर भारतीय वीरता के दिव्य एवं प्रकाशमान प्रसंगों को उपस्थित कर कवयित्री हमारे मन में राष्ट्र के लिए शहीद होने की मंगल प्रेरणा देती हैं। राम ने लंका में, अर्जुन ने कुरूक्षेत्र में, महाराणा प्रताप ने हल्दीघाटी में तथा वीर छत्रपति शिवाजी ने सिंहगढ़ में शत्रुओं के छक्के छुड़ाये थे। इन्हीं से प्रेरणा लेने की सीख कवयित्री ने दी है। कवयित्री को दुख है कि चन्दवरदायी और भूषण जैसी काव्यशक्ति उनमें नहीं है कि वे वीरों के मन–प्राणों में जोश भर दें। इनकी कलम तो स्वच्छन्द भी नहीं, पराधीन है। अतः वे असमर्थ हैं। वे कहती हैं– ''भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,/बिजली भर दे वह छन्द नहीं/है कलम बँधी स्वछन्द नहीं/फिर हमें बतावे कौन? हन्त!/वीरों का कैसा हो वसंत?'' इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वीरों में ओज भरने वाला कोई भूषण अथवा चन्दवरदायी जैसा कवि नहीं था। सच तो यह है कि उस भूमिका में स्वयं सुभद्रा कुमारी चौहान ही थीं। भूषण या चन्दवरदायी के न होने की चर्चा उन्होंने अपने समकालीन कवियों को राष्ट्रीय चिंताधारा से जोड़ने के लिए किया है ताकि वे अपने काव्य–सृजन को अन्य प्रवृत्तियों में व्यस्त न कर राष्ट्रधर्म में अपने को न्यस्त करें।

'राखी की चुनौती' शीर्षक कविता में कवयित्री सुभद्रा जी ने भाई–बहन के पुनीत पर्व के माध्यम से भाई–बहन के त्याग और उत्सर्ग का मार्मिक अभिव्यंजन किया है– ''है आती मुझे याद चित्तौरगढ़ की,/धधकती है दिल में वह जौहर की ज्वाला।/है माता–बहिन रो के उसको बुझाती,/कहो भाई तुमको भी है कुछ कसाला।।''[8] 'विदा' नामक कविता भी भाई–बहन के प्रेम से प्रेरित त्याग और बलिदान की कहानी कहती है। 'विजयादशमी' कविता में कवयित्री ने महात्मा गाँधी को राम के रूप में प्रस्तुत कर अतीत की विजयगाथा को वर्तमान से जोड़ दिया है– ''रामचन्द्र की विजय–कथा का भेद बता आदर्श सखी।/पराधीनता से छूटे यह, प्यारा भारतवर्ष सखी।।''[9]

ध्यातव्य है कि सुभद्रा कुमारी चौहान का व्यक्तित्व एवं कृतित्व गाँधीवादी चिन्तनधारा से अनुप्राणित था। सुभद्रा जी ने बापू की अदम्य भाक्ति का अभिव्यंजन इन शब्दों में किया है– ''जिसकी वाणी में भाक्ति,/भेद कुलिष कपाटों को जाती,/जिसके अंतर का प्रेम देख/असिधारा कुंठित हो जाती।/वह गाँधी हम सब का 'बापू'/वह अखिल विश्व का प्यारा है,/वह उनमें ही से एक जिन्होंने/आकर विश्व उबारा है।।''[10] 'विस्मृति की स्मृति' शीर्षक कविता में रतौना में कसाईखाना खुलने और सरकार द्वारा गोवध की अनुमति मिलने पर कवयित्री ने खुलकर टिप्पणी की है जिसमें भारत का पौराणिक संदर्भ दिखता है। जनता मौन है, क्योंकि वह पराधीन है। उनमें विरोध की शक्ति नहीं है। ऐसे समय में गौरक्षा के लिए गोपाल कृष्ण का सहारा आवश्यक है– ''उधर तुम कहलाते गोपाल,/इधर ये गौएँ दिन–दिन कटें।/कहो, तुम ही कह दो गोपाल,/तुम्हें अब कौन नाम से रटें।।''[11]

निष्कर्षतः सुभद्रा कुमारी चौहान की समस्त राष्ट्रीय कविताओं में ओज और शौर्य की अभिव्यक्ति प्रभविष्णुता के साथ हुई जिसमें त्याग और बलिदान का स्वर ऊँचा है– ''बढ़ जाता है मान वीर का, रण में बलि होने से।/मूल्यवती होती सोने की भस्म यथा सोने से।।''[12] यद्यपि यह भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन और राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के लिए दुर्भाग्य ही था कि उनका देहावसान एक दुर्घटना में हो गया तथापि वे चिनगारी के रूप में भारतीय जनमानस पर भास्वर हैं।

संदर्भ संकेतः–

1. डॉ0 नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ–539
2. सुभद्रा कुमारी चौहान, 'मुकुल एवं अन्य कविताएँ'–'झाँसी की रानी' पृष्ठ–64
3. वही, पृष्ठ–66
4. वही, पृष्ठ–72
5. वही, पृष्ठ–126
6. वही, पृष्ठ–126
7. वही, पृष्ठ–127
8. वही–'राखी की चुनौती', पृष्ठ–76
9. वही–'विजयादशमी', पृष्ठ–90
10. सुभद्रा समग्र– 'लोहे को पानी कर देना', पृष्ठ–173
11. सुभद्रा कुमारी चौहान, 'मुकुल एवं अन्य कविताएँ'–'झाँसी की रानी' पृष्ठ–123
12. वही– 'झाँसी की रानी की समाधि पर', पृष्ठ–147

■

नुक्कड़ नाटक

भ्रांतियां और विरोधी मान्यताएं

डॉ. अदनान बिस्मिल्लाह *

नुक्कड़ नाटक साहित्य की वह विधा है जिसे सबसे ज्यादा हेय की दृष्टि से देखा जाता है। किसी विशेष प्रयोजन से किसी नुक्कड़ पर किसी मंडली द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य है नुक्कड़ नाटक। साहित्यकारों, आलोचकों, समीक्षकों और रंगकर्मियों के बीच इसे साहित्य की विधा मानने और न मानने को लेकर बहस चलती रहती है। समूह द्वारा किया गया लेखन जनतांत्रिक विधि से तैयार किया गया नाटक आमजन की भाषा में लिखा जाता है। यह आमजन की समस्यायों और समाधान का नाटक है। नुक्कड़ नाटक को अनेक नाटककार, आलोचक, समीक्षक, नाट्यकर्मी मंचीय नाटक से इसे पूरी तरह भिन्न मानते हैं। वे इसे 'गटर थीयेटर' की संज्ञा देते हैं। इनकी दृष्टि में प्रेक्षागृह में खेला जाने वाला नाटक ही साहित्य की विधा है। नुक्कड़ और मंच पर खेला जानेवाला नाटक जनवादी और अभिजात्यवादी कला में विभक्त हो जाता है। नुक्कड़ नाटक जन का नाटक है जिसकी गणना कला की समीक्षा या पुरस्कार की श्रेणी में नहीं की जाती। आम जन की भाषा एवं शैली में मनोरंजन के साथ विचार एवं जागरूकता पहुचानें का माध्यम बनता है। विभिन्न भ्रांतियों और विसंगतियों से जूझता नुक्कड़ नाटक समाज को उन्नत और स्वस्थ बनाने का प्रयास करता है।

मूल आलेख– 'नुक्कड़' वह स्थान है जिससे दुनिया बनती है। समाज का वह खाली हिस्सा जहाँ पूरा समाज मिल जाता है। विश्व में सभ्यता के प्रारंभ में जब धरती समतल रही होगी तो समतल स्थान कुछ लोग इकठ्ठा हुए होंगे और वो स्थान बना होगा पहला नुक्कड़। उस नुक्कड़ से दुनिया में सभ्यता बढ़ी होगी, लोगो ने घर बनाया होगा और उन घरों के आस–पास नुक्कड़। दिनभर की दिनचर्या और अपने–अपने अनुभवों को साझा करने के लिए लोग घरों से निकल कर जिस जगह पर इकठ्ठा होते होंगे वह नुक्कड़ होगा। सभ्यता के प्रारंभ से अब तक के विकास में लोग सभ्य हुए, सभ्यताएं बनी और विलुप्त हुईं, मनुष्य ने युगों–युगों तक का सफर तय किया, ज्ञान–विज्ञान में बढ़ोत्तरी हुई किन्तु नुक्कड़ आज भी मौजूद है। विकसित और सभ्य होने की होड़ में समाज में स्वतरू ही दो वर्ग पैदा हो गए। आम जन और अभिजन। आम जन की बात करने वाला जनवादी और अभिजात्य वर्ग की बात करने वाले अभिजनवादी।

❖ संपर्क : अतिथि प्राध्यापक (हिंदी विभाग), मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, तेलंगाना। मो.– 919555774493

नुक्कड़ संयोजन का पर्याय है– विचारों का संयोजन, प्रतिस्पर्धा का संयोजन, ज्ञान का संयोजन, सहमति–असहमति का संयोजन, राजनीति के भिन्न–भिन्न विचारों और मतों के संयोजन का स्थल। ऐसे संयोजन का रंग और खेल प्रायरू प्रतिदिन प्रत्येक समय हमारे आस–पास खेला जाता है। साहित्य की कई धाराएं इन्हीं नुक्कड़ों से संजीवनी पाती है। इन्हीं नुक्कड़ो पर मिल जाते हैं कहानी उपन्यासों के पात्र जो कालजई हो जाते हैं। इन्हीं नुक्कड़ो में खेला जाता है नाटक – 'नुक्कड़ नाटक'। देवेन्द्र राज अंकुर अपनी पुस्तक 'रंग कोलज' में लिखते हैं– "पूर्व हो या पश्चिम– यों तो नाटक और रंगमंच की शुरुआत ही खुले में हुई अर्थात नुक्कड़ ही वह पहला स्थान था जो नाटक के खेलने में इस्तेमाल हुआ। आदिम युग में सब लोग दिन भर शिकार करने के बाद शाम में अपने अपने शिकार के साथ कहीं खुले में एक घेरा बना कर बैठ जाते थे और उस घेरे के बीचों–बीच ही उनका भोजन पकता रहता, खान पान होता और वहीँ बीच में नाचना गाना। इस प्रकार शुरू से ही नुक्कड़ नाटकों से जुड़े तीन जरूरी तत्वों की उपस्थिति इस प्रक्रिया में भी शामिल थी– प्रदर्शन स्थल के रूप में एक घेरा, दर्शकों और अभिनेताओं का अन्तरंग संबंध और सीधे सीधे दर्शकों की रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़े कथानकों, घटनाओं और नाटकों का मंचन।"[1]

'नुक्कड़ नाटक'– किसी विशेष प्रयोजन से किसी नुक्कड़ पर किसी मण्डली द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य। नुक्कड़ नाटक साहित्य की वह विधा है जिसे सबसे ज्यादा हेय की दृष्टि से देखा जाता रहा है। साहित्यकारों, आलोचकों, समीक्षकों और रंगकर्मियों के बीच इसे साहित्य की विधा मानाने और न मानने को लेकर बहस चलती रहती हैं। हालाँकि नुक्कड़ पर प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों का लेखन अधिकतर नाट्य मंडलियों द्वारा स्वयं ही किया जाता है। कभी कभी किसी एक व्यक्ति द्वारा या समूह द्वारा इसकी रूपरेखा से लेकर संवाद तक का प्रारूप तैयार किया जाता है। समूह द्वारा किया गया लेखन जनतांत्रिक विधि से तैयार किया गया नाटक आम जन का नाटक है, आम जन की भाषा में लिखा नाटक है, आम जन की समस्याओं और समाधान का नाटक है। समाज को उन्नत और स्वस्थ बनाने के प्रयास का नाटक है। डॉ. वर्षा गायकवाड अपनी पुस्तक 'हिंदी मराठी नुक्कड़ नाटक' में लिखती हैं– "नुक्कड़ नाटक प्रश्नों एवं समस्याओं के प्रति आम जनता को जागरूक बनाने तथा उन्हें विचार एवं कर्म के लिए प्रेरित करने का काम बखूबी कर लेता है, यह उसकी क्षमता का द्योतक है। लेकिन उसपर प्रचार, प्रोपोगंडा एवं राजनीति करने का आरोप लगाया जाता है और उन्हें कलात्मकता से रहित कहा जाता है।"[2] किन्तु फिर भी 'नुक्कड़ नाटक' साहित्य की विधा का वह अध्याय है जिस पर वाद–विवाद होता रहता है।

साहित्य में किसी विधा को लेकर वाद–विवाद या सवाल खड़ा नही किया जा सकता है किन्तु कुछेक प्रश्न या चुनौतियां या असहमत करने वाले विचार प्रकट हो ही जाते हैं। हर विधा में कुछ न कुछ विरोध दर्शाने वाली बाते सामने आ ही जाती है जिसकी वजह से उस विधा पर ही सवाल खड़ा हो जाता है। नुक्कड़ नाटक के सन्दर्भ में भी ये बात लागू होती है। नुक्कड़ नाटक को भी अनेक नाटककार, आलोचक, समीक्षक. नाट्य रंगकर्मी मंचीय नाटक से इसे पूरी तरह से

भिन्न मानते हैं। कई नाटककारों, आलोचकों ने तो नुक्कड़ नाटक को नाटक मानने से साफ तौर पर इंकार किया है। बकौल प्रज्ञा वर्तमान में बहुत सारे ऐसे नाटककार, रंगकर्मी और आलोचक हैं जो नुक्कड़ नाटक को 'गटर थिएटर' मानते हैं और इस विधा को पूरी तरह से हेय दृष्टि से देखते हुए नकारते हैं। इसके बरक्स चन्द्रेश का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "अपने वर्गीय संस्कार के कारण नाटक से जुड़े रंगकर्मी गाँव–टोलो, मजदूर–बस्तियों के अपढ़ लोगो के बीच जाने से कतराते रहे हैं. ऐसे रंगकर्मी सामान्य जन–जीवन से जुड़ने, यथार्थ को नजदीक से देखने की जरूरत ही नहीं समझते, क्योंकि उनके दिमाग में रंगकर्मी होने का अर्थ 'विशेष' या 'सामान्य' से भिन्न होना है।"[3] नुक्कड़ और मंच पर खेला जाने वाला नाटक जनवादी और अभिजनवादी कला में विभक्त हो जाता है। प्रज्ञा अपनी पुस्तक 'नुक्कड़, रचना और प्रस्तुति' में लिखती हैं– "जनवादी और अभिजनवादी रंगकर्म में कला का उद्देश्य को लेकर पर्याप्त भिन्नता है। जहाँ जनवादी कर्म 'कला समाज के लिए' सिद्धांत का पक्षधर है वहां अभिजनवादी रंगकर्म 'कला कला के लिए' सिद्धांत का। अभिजनवादी रंगकर्म का उद्देश्य आनंद की प्राप्ति है और यह आनंद सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त है। यह रंगकर्म को स्वायत्त कर्म मानता है जो विचारधारात्मक प्रतिबद्धता का विरोधी और रूप–चमत्कार, व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक है।"[4]

कला कला के लिए के समर्थक अभिजनवादी सदैव ही नुक्कड़ नाटक के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि नुक्कड़ नाटक तो सिर्फ शोर मात्र है। नुक्कड़ नाटक राजनीतिक प्रोपोगंडा है। नाचने गाने के साथ एक ही प्रकार के संयोजन और नारेबाजी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध नाट्य साहित्यकार और रंगकर्मी जयदेव तनेजा अपने विचार रखते हुए कहते है किदृ "नुक्कड़ नाटक वाला हमारा तथाकथित राजनीतिक अथवा प्रतिबद्ध रंगमंच प्रायः नारेबाजी के सपाट स्तर तक उतर आता है और गिने–चुने संयोजनों, गीत–विधानों और मुद्राओं–भंगिमाओं एवं भाषणों के कारण बहुत जल्दी ही कल्पनाविहीन पुनरावृति का शिकार होने लगता है।"[5] इस विचार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक ऐसी विधा है जो कला विहीन है और इसमें नाटक के किसी भी तत्व का समावेश नहीं होता है। नुक्कड़ नाटक को पूरी तरह से नारेबाजी कहा जा सकता है और यह साहित्य की विधा नहीं हो सकती है। नुक्कड़ नाटक में समसामयिक विषयों के साथ साथ राजनीति पर भी प्रस्तुति होती रहती है किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि नुक्कड़ नाटक सिर्फ राजनीतिक विषयों पर ही खेला जाता है। डेविड मर्गोलोज अपनी पुस्तक 'द फंक्शन ऑफ लिटरेचर' में लिखते हैं – "अस्थाई राजनीतिक प्रतिमानों के आधार पर साहित्य का निर्णय करना न केवल बुरी समीक्षा है, वह बुरा मार्क्सवाद भी है।"[6]

इस तरह के वाद–विवाद से प्रश्न खड़ा होता है कि नुक्कड़ नाटक क्या सिर्फ नारेबाजी है ? क्या नुक्कड़ नाटक रंगकर्म की आवश्यकता और मांगों को पूर्ण करता है? नुक्कड़ नाटक के लिए भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। क्या नुक्कड़ नाटक की भाषा शैली सही है ? नुक्कड़ नाटको में संगीत का उपयोग करना किस हद तक और कितना उचित है ? नुक्कड़ नाटक हेतु कथावस्तु और

शैलीगत संरचना कैसी होनी चाहिए ? क्या नुक्कड़ नाटक और मंच नाटकों में कोई सम्बन्ध है ? क्या नुक्कड़ नाटक और मंच नाटक के दर्शक वर्ग आपस में जुड़े है? इस तरह के बहुत सारे प्रश्न आज भी नुक्कड़ नाटक के सन्दर्भ में विचारणीय बने हुए हैं। इन्हीं प्रश्नों के कारण नुक्कड़ नाटक को लेकर नाटककार, आलोचक और समीक्षक विरोध दर्शाते हैं और नुक्कड़ नाटक को कलाविहीन कहते हुए गटर नाटक की संज्ञा देते हैं।

नुक्कड़ नाटक के सन्दर्भ में डॉ. प्रज्ञा 'नुक्कड़ नाटक रचना और प्रस्तुति' की भूमिका में लिखती हैं – "साहित्य कभी भी सर्व–निरपेक्ष नहीं हो सकता है। परन्तु साहित्य की शुद्धतावादी समझ के साहित्यकारों ने नुक्कड़ नाटक के जमीनी सच और बिना ताम–झाम की प्रस्तुतियों पर नाक–भौं सिकोड़े और कहा कि यह तो 'गटर थियेटर' है। साथ ही नुक्कड़ नाटक के विषय में अनेक भ्रांतियों का भी प्रचार किया।"[7] इस आधार पर यह कहना बिलकुल भी गलत नहीं होगा कि साहित्य के विद्वानों ने नुक्कड़ नाटक को मंचीय नाटक के व्याकरण और सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर उसके कथ्य और शिल्प को मापने का कार्य किया। जबकि नुक्कड़ नाटक का अपना एक व्याकरण और सौंदर्यशास्त्र है, उसका अपना कथ्य और शिल्प है। देवेन्द्र राज अंकुर लिखते हैं–"क्या कारण है कि कथ्य और शिल्प के स्तर पर सभी नुक्कड़ नाटकों का चेहरा एक सा ही होता जा रहा है? क्या चौराहों, बाजारों में लोगों की भीड़ को एकत्रित करके जोर जोर से एक ही बात को चीख–चिल्ला अथवा गाकर बताने का नाम ही नुक्कड़ नाटक है या कि उसके लिए भी अभिनेताओं की कोई विशेष प्रशिक्षण पद्धति हो सकती है? विरोध और रोजमर्रा की समस्याओं से अलग भी गहरी व गूढ़ बातों में जा कर नुक्कड़ नाटक उनकी जांच–पड़ताल कर सकता है या नहीं ?"[8]

कथन के लिए सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक जन का नाटक है जन की समस्याओं, समाधान, जागरूकता का नाटक है। आम जन की भाषा शैली का नाटक है। किसी प्रेक्षागृह में आमंत्रण या पैसा देख कर मनोरंजन करने का कोई भी साधन उस आम व्यक्ति के पास आज भी नहीं है जो अशिक्षा और आभाव में जीवन व्यतीत कर रहा है। अशिक्षित या अल्प शिक्षित आम जन तक मनोरंजन के साथ सोचना या जागरूकता पहुँचाने के लिए उनकी भाषा और शैली को अपनाना ही पड़ता है। नुक्कड़ नाटक जन का नाटक है जिसकी गणना कला की समीक्षा या पुरस्कार की श्रेणी में नहीं की जाती। नाटक में सौन्दर्य शास्त्र की खोज प्रेक्षागृह में बैठकर या पढ़कर की जा सकती है जिसका उद्देश्य समाज के लिए नहीं मात्र कला के लिए होता है। ऐसी ही कलात्मकता की तलाश करते हुए देवेन्द्र राज अंकुर आगे लिखते हैं– "अभी तक के नुक्कड़ नाटकों में हमें मात्र दो ही रंग दिखाई देते हैं– काला और सफेद। सच तो यह है कि ये दोनों ही रंग अपने आप में कोई रंग नहीं हैं, इसलिए नुक्कड़ नाटक अपनी प्रस्तुति में नीरस, एकायामी और सतही लगने लगते हैं। जाहिर है मैं यहाँ वेशभूषा में प्रयुक्त काले और सफेद रंगों की बात नहीं कर रहा हूँ वरन मानवीय प्रकृति और प्रवृत्ति से जुड़े बहुविध पक्षों और रंगों की बात कर रहा हूँ। क्या मनुष्य अपने रोजमर्रा के जीवन में एक रंग में पुता होता है? क्या एक ही क्षण में वह अपने बाहर भीतर

कितने ही चरित्रों को एक साथ नहीं जी रहा होता ?"9 गौरतलब है कि उपरोक्त वक्तव्य में एक विरोधाभाषा स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है कि नुक्कड़ के विरोध में जो बातें कही गयी हैं असल में वे सभी बातें नुक्कड़ के पक्ष में दिखायी पड़ती है। अच्छा और बुरा, नायक और खलनायक ये दो ही चरित्र किसी भी नाटक में पाए जाते हैं। मानव जीवन में भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई अच्छा बुरा या नायक खलनायक होता है चाहे वो व्यक्ति हो या परिस्थितियां। मनुष्य अपने जीवन में एक ही रंग से नहीं पुता होता है उसके अन्दर और बाहर कई तरह के चरित्र होते हैं ठीक उसी प्रकार नुक्कड़ में भी कोई भी कलाकार कोई निश्चित चरित्र को नहीं अपनानता है बल्कि वह भिन्न–भिन्न चरित्रों को अपने अंदर समाहित किये हुए होता है एक बार घेरे से बाहर आया तो कोई और चरित्र फिर घेरे में आया तो कोई और चरित्र। इसलिए नुक्कड़ में कलाकार एक ही नाटक में कई चरित्रों का अभिनय करता है और इसीलिए नुक्कड़ में कोई वेशभूषा नहीं होती। नुक्कड़ नाटक असल में काला और सफेद के बीच के द्वन्द को उभरता है। नुक्कड़ नाटक की आवश्यकता और स्वरुप को स्पष्ट करते हुए हबीब तनवीर लिखते हैं– "नुक्कड़ नाटक की यह विधा आज की स्थितिओं की उपज है। अपने काल की उपज है। प्रत्येक युग अपनी साहित्यिक, सांस्कृतिक विधाएं स्वयं प्रस्तुत करता है। आज की मांग है कि लेखक और कलाकार सामाजिक यथार्थ की सही तस्वीर पेश करें, जिस भांति आज के युग में, कहानी विधा उभरकर आई थी और साहित्य की लोकप्रिय विधा बनी, वैसे ही नुक्कड़ नाटक भी सामने आया। यह रंगमंच पर खेले जाने वाले लम्बे नाटक का पर्याय नहीं हैं, न ही विकल्प हैं। यह कोई नहीं कहता कि थियेटर हॉल में से कलाकार निकल आयें और गली–बाजार में अपने लघु नाटक, एकांकी अथवा नुक्कड़ नाटक ही दिखाएं, कि थियेटरों को बंद कर दिया जाए। कोई यह नहीं कहता कि नुक्कड़ नाटक, नाट्य–कला के विकास का अगला चरण है। पर निश्चय ही नुक्कड़ नाटक से नाट्य–कला के साथ नए आयाम जुड़ते हैं। उसने एक स्वतंत्र विधा का रूप ले लिया है। वैसे ही जैसे एकांकी ने, कहानी ने, रेडियो–एकांकी आदि ने। हाँ, सामाजिक स्तर पर नुक्कड़ नाटक की एक भूमिका है जो वह रंगमंच पर, थियेटर की चारदिवारी के अन्दर नहीं निभा सकता।"[10]

नुक्कड़ नाटक के लिए सुखद बात यह है कि साहित्य के विद्वानों के बीच उत्पन्न व्यापक अंतर्विरोध एवं कुछ पूर्वाग्रहों को दूर करने हेतु नाटककारों और रंगकर्मियों ने बहुत से कार्य किये हैं। वर्तमान में नुक्कड़ नाटक कलात्मक ढंग से लिपिबद्ध करके प्रकशित किये जा रहे हैंसाथ ही उसकी खूब सारी प्रस्तुतियां भी की जा रही है। नुक्कड़ नाटक के सन्दर्भ में जो भी विरोधी भाव या विचार पैदा हुए उसमें विद्वानों और आलोचकोंकी ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अगर नुक्कड़ नाटक के सम्बन्ध में गलत धारणाएं या विचार नहीं फैलाए गए होते, उसे गटर थियेटर की उपमा नहीं दी गयी होती तो नुक्कड़ नाटक के प्रति नाटककारों और रंगकर्मियों के मन में यह विचार कभी उत्पन्न ही नहीं होते कि नुक्कड़ नाटक एक कला विहीन नाट्य विधा है। आज नुक्कड़ नाटक की स्थिति परम्परागत मंचीय नाटक के जैसी होती। हालाँकि वर्तमान समय में भी नुक्कड़ नाटक की स्थिति

कुछ खास अच्छी नहीं है। आज भी नुक्कड़ नाटक को लेकर तमाम तरह के प्रश्न खड़े किये ही जा रहे है कितुं इतना तो अवश्य है कि आने वाले वक्त में नुक्कड़ नाटक से जुड़े तमाम चुनौतियों को स्वीकार किया जाएगा और इसके स्वरूप को अपनाते हुए नाट्य विद्यालयों में भी नुक्कड़ नाटक के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाएगी तथा रंगकर्म में रूचि रखने वालों को इसका प्रशिक्षण प्रदान किया जाएगा। अंत में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि "अभिजनवाद के विरुद्ध, जनवाद की अवधारणा आधुनिक समाज–व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। जनवाद ने विश्वभर में जनपक्षधर, सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्थाओं से लेकर कलाओं और साहित्य आदि तक को गहरे से प्रभावित किया है। वस्तुतः जनवाद में निहित चेतना व्यापक शोषित–दलित जनता को शोषक–दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है। यही जनवादी चेतना, जो रूढ़, जड़, अंधविश्वासों और मान्यताओं के खिलाफ जन–जागृति का, जन इच्छाओं का सहारा लेती है; नुक्कड़ नाटक की प्रेरक शक्ति भी है।"[11] आशा है कि नुक्कड़ नाटक से जुड़े रचनाकार भी नई और अच्छी पटकथाओं का निर्माण करेंगे और नुक्कड़ नाटक का भविष्य भी मंचीय नाटकों की तरह उज्ज्वल होगा।

सन्दर्भ सूची

1. देवेन्द्र राज अंकुर, नुक्कड़ नाटक : परंपरा और प्रयोग, रंग कोलाज, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 2000, प्रथम संस्करण, पृ.सं.67
2. डॉ. वर्षा गायकवाड, क्षमताओं एवं सीमाओं की जांच–पड़ताल, हिंदी मराठी नुक्कड़ नाटक, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2012, पृ.सं. 149
3. सं– चन्द्रेश, नुक्कड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983, पृ. सं.–7
4. प्रज्ञा, जनवादी और अभिजनवाड़ी रंगकर्म, नुक्कड़ नाटक : रचना और प्रस्तुति, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, 2019, पृ.सं.58
5. डॉ. जयदेव तनेजा, हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, 2010, पृ.सं. 143
6. द फंक्शन ऑफ लिटरेचर, डेविड मार्गोलोज, लोरेंस एंड विशआर्ट, लंदन, 1969, पृ.सं. 115
7. प्रज्ञा, नुक्कड़ नाटक रचना और प्रस्तुती, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., सन 2000, पृ.सं. 11
8. देवेन्द्र राज अंकुर, नुक्कड़ नाटक : परंपरा और प्रयोग, रंग कोलाज, राजकमल प्रकाशन प्रा.ली, 2000, पृ.सं. 69–70
9. वही, पृ.सं. 73–74
10. हबीब तनवीर, सफदर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021, पृ. सं. 11–12
11. प्रज्ञा, भूमिका, नुक्कड़ नाटक : रचना और प्रस्तुति, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, 2019, नई दिल्ली, पृ.सं. 10–11

■

नारी अस्मिता के संदर्भ में

मृदुला गर्ग एवं अन्य समकालीन लेखिकाओं के उपन्यास

सोनी कुमारी *

समाज और साहित्य का संबंध बहुत पुराना है। साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है जिसका प्रत्यक्ष संबंध समाज से है और समाज को आगे बढ़ाने में मनुष्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज मे घट रही अच्छी एवं बुरी घटनाओं का प्रभाव अवश्य ही मनुष्य पर होता है। इस प्रभाव को ही साहित्यकार अपनी रचनाओं में बांधता है एवं समाज को मार्गदर्शन देता प्रतीत होता है। महिला साहित्यकार भी समकालीन परिदृश्य में मनुष्य जीवन की परिवर्तनशीलता को अत्यंत मार्मिकता एवं प्रखरता के साथ अपने उपन्यासों में चित्रित कर रही हैं। ये लेखिकाएँ स्त्री जीवन की संघर्षगाथा को चेतनायुक्त मन से प्रस्तुत कर साहित्य में स्त्री के नये रूप को उद्घाटित करने का कार्य कर रही हैं।

साहित्य में नारी अस्मिता को जानने से पहले हम समकालीनता के बारे में जानेंगे कि समकालीनता है क्या ? वैसे तो समकालीनता का संबंध अपने साथ चलने वाले समय से है। जिसकी व्याख्या मृदुला जोशी इस प्रकार करती हैं– "समकालीन शब्द विशेषण है और समकालीनता भाववाचक संज्ञा है। किसी व्यक्ति के समय या किसी कालखण्ड में प्रचलित या व्याप्त प्रवृत्तियों एवं स्थितियों के होने का भाव समकालीनता है।"[1] अर्थात् समकालीन साहित्य में समय के साथ चलने वाली प्रवृत्तियों और स्थितियों को इंगित करता है। अगर विषयवस्तु की दृष्टि से परखा जाय तो समकालीन दौर में नारी अस्मिता का स्वरूप काफी विशाल हो गया है। जीवन में घट रहे छोटी–छोटी घटनाओं को भी मुख्य विषय बनाकर महिला साहित्यकारों ने एक सुदृढ़ साहित्यिक भूमि तैयार की है। इन साहित्यकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से नाना प्रकार कीस्त्री समस्याओं को संजीदगी के साथ चित्रित किया है जो समाज के लिए जागरण का संदेश बन चुका है। वैसे तो समकालीन उपन्यास में नारी के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं। पहला, स्त्री कैसे सदियों से पीड़ित है और वह किस प्रकार शोषण और अत्याचार का शिकार अभी भी हो रही है ? दूसरा, यह कि वह किस प्रकार नयी परिस्थितियों एवं समस्याओं से जूझ रही हैं ? तीसरा, स्त्री किस प्रकार स्वावलम्बी, राजनितिक दृष्टि से सबलीकरण एवं आर्थिक रूप से जकड़न को चुनौती देने के लिए संघर्षरत है।

❖ संपर्क : शोधार्थी, बिनोद बिहारी महतो, कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद। ई–मेल : sonikumari02011990@gmail.com

भारत ही नहीं, आज पूरे विश्व में नारी आंदोलन अपने व्यापक रूप से परिलक्षित हो रहा है, जिसका प्रभाव तत्कालीन स्त्री लेखन पर भी पड़ा है। नारी चिंतन, नारी संघर्ष, नारी अस्तित्व व नारी अस्मिता जैसे शब्द स्त्री मूल्यों के अवलोकन में रेखांकित हो रहे हैं। इसे रेखांकित करने में समकालीन स्त्रीवादी लेखिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है जिन्होंने समकालीन परिदृश्य में स्त्री को उसके जीवन की रक्षा, समाज में सुरक्षात्मक एवं सम्मानजनक वातावरण देने अथवा उसकी विभिन्न समस्याओं को समझने हेतु नव्य प्रयोग स्त्री रचनाकारों के साहित्य में हो रहे हैं। इन समकालीन लेखिकाओं की वजह से ही यह संभव हो पाया है कि स्त्री अब समाज में सक्रियता व जागरूकता के साथ आगे बढ़ रही है। स्त्री का बदलता स्वरूप ही समाज में स्त्री भागीदारी को अधिकार दिला रहा है। वस्तुतः समकालीनता के इस दौर में स्त्री लेखिकाएँ साहित्यिक परिदृश्य में स्त्री पर होने वाले चिंतन पर अपनी निर्णायक भूमिका समाज के समकक्ष प्रस्तुत कर रही हैं। वैसे तो नारी आंदोलन एवं नारी अस्मिता पर चिंतन भारत एवं पश्चिमी देशों में आदिम युग से चलता आ रहा है किन्तु "90 के दशक तक स्त्री की आजादी और अस्तित्व के लिए स्वर और तेज होने लगे। स्त्रियों से सम्बंधित उम्दा किस्म की रचनाएँ छपने लगीं। स्त्री विमर्श ने जरा जोड़ पकड़ा, गंभीर किस्म के विचारपरक साहित्य चर्चा में आए। 'वूमन मार्च टुवार्डस डिग्निटी' में कृष्ण अय्यर ने एक लेख लिखा है, शीर्षक था 'ह्युमन राइट टू वी वूमन'। इसमें उन्होंने स्त्री के संदर्भ में बहुत जरूरी मुद्दों को उठाया है।"[2] अतः 90 के दशक में समकालीन "स्त्री लेखिकाओं के लेखन के केन्द्र में स्त्री की भयावह समस्याएँ हैं। पितृसत्तात्मक मर्यादाओं की तीखी आलोचना है जिसमें स्त्री समाज का खुला दमन किया गया है। कृष्णा सोबती का लेखन हो अथवा महा वेता देवी का, मन्नू भंडारी का लेखन हो अथवा गगन गिल का, चित्रा मुद्गल का लेखन हो अथवा मेहरून्निसा परवेज का, प्रभा खेतान का लेखन हो या मृदुला गर्ग का, अनामिका का हो या अलका सरावगी का– इन सभी के लेखन में "स्त्री मुक्ति के लिए जो फीडबैक आ रहा है वही स्त्री की चेतना का विकास कर सकेगा। हालाँकि इस दिशा मे एक लम्बी बीहड़ यात्रा तय करनी है।"[3]

समकालीनता की दौर में मानवीय सुख–दुख को समझने की जो दृष्टि स्त्री में मिलती रही है वह शायद पुरुषों में कम ही देखने को मिलती है। अगर मिलती भी है तो वह उतने संवेदनशील नहीं हो पाते। स्त्री ही स्त्री की मनस्थिति को अच्छी तरह समझ सकती है और स्त्री की विशिष्टता को पहचान कर उसे अभिव्यक्त भी कर सकती है। ऐसी ही लेखिका है मृदुला गर्ग जिन्होंने जिस सुघड़ता से स्त्री की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है वह मार्मिक बन गया है। लगभग आठवें दशक के प्रारंभ से लेखन कार्य से जुड़ते हुए अभी तक समाज में एक मिशाल कायम कर चुकी है। मृदुला गर्ग के उपन्यास की स्त्री आधुनिक होते हुए भी अपने आत्मसम्मान के लिए संघर्ष करती है। उनकी स्त्री आत्मासचेत तो है किन्तु पुरुष की बदलती मानसिकता ने उसे असुरक्षित महसूस करवाया है। उनकी स्त्रियाँ पुरुष के निर्णय को स्वीकार्य नही करना चाहती बल्कि अपना

प्रतिनिधित्व खुद करना चाहती हैं। मृदुला गर्ग का मानना है कि "पुरुष भोगे और स्त्री भुगते यह आज की औरत को मान्य नही है।"[4] मृदुला गर्ग के उपन्यासों में मानवीय संवेदना और बदलते आर्थिक, सामाजिक, राजनितिक स्थितियों के कई पहलू अत्यंत प्रखरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। उनके उपन्यासों का मूल बिन्दु टूटती मानवीय सम्बंधों–विशेषकर पति–पत्नी सबंध, पीढ़ियों का संघर्ष, स्त्री की बदलती परिस्थितियों, स्त्रियों का अपने लिए आत्मसार्थकता की तलाश आदि विषय समकालीन परिदृश्य में रूपायित हुए हैं। साथ ही प्राचीन रूढ़ीवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह, पितृसत्तात्मक मानसिकता और शोषण के विभिन्न रूप, यौन संबंध और विवाह की अनिवार्यता के प्रति संघर्ष आदि उनके उपन्यासों में संदर्भित हैं। उनके उपन्यासों में भारत ही नहीं, विदेश की महिलाओं की मार्मिकता का वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ किया गया है। उन्होंने कुल आठ उपन्यासों की रचना की जिनमें 'उनके हिस्से की धूप', 'चितकोबरा', 'कठगुलाब', 'अनित्य', 'वंशज', 'मिलजुलमन', 'मैं और मैं' आदि हैं।

'उनके हिस्से की धूप' पति पत्नी के संबंध पर आधारित उपन्यास है जिसके स्त्री पात्र विदेश में होकर भी भारतीय स्त्री की भाँति संघर्ष झेल रही हैं। तात्पर्य यह कि स्त्री कहीं की भी हो, वह शोषित होती ही रहती है। परन्तु मृदुला जी की स्त्री पात्र शोषित होने के बावजूद संघर्षरत जीवन जीने के लिए बाध्य नहीं है। वह पितृसत्तात्मक समाज को चुनौती देती है। एक जगह पर 'उनके हिस्से की धूप' की मनीषा कहती है–"घर के रोजमर्रा के यह कामकाज, खाना बनाना, झाड़ू पोंछा करना, फैला सामान बटोरना, नौकर से झिकझिक करना, सौदा मंगाना, हिसाब रखना, कपड़े धोना, इतने छोटे होते हैं कि इनका हवाला देकर न तो किसी से व्यस्तता की फरियाद की जा सकती है और न उन्हें निबटाकर किसी बौद्धिक सन्तोष का अनुभव। सबसे कष्टप्रद चीज यह लगती है कि वे इतनी अनिवार्यता के साथ रोज दर रोज घण्टे दर घण्टे सिर पर सवार हो जाते हैं कि उन्हें किये बिना रहा नहीं जा सकता। करने में पल–पल, क्षण–क्षण, घण्टा–घण्टा, न जाने कितना समय लग जाता है पर उपलब्धि की तृप्ति नहीं होती है बस समय की हत्या और उसी हरकत की पुनरावृत्ति।"[5] मृदुला जी अपने पात्र के माध्यम से समाज को स्पष्ट कर देना चाहती हैं कि पितृसत्तात्मक समाज में गृहस्थी का पूर्ण भार सिर्फ स्त्री नही संभालेगी बल्कि यह भार पुरुष को भी उठाना होगा।

मृदुला गर्ग जी का उपन्यास अनित्य, चितकोबरा, मै और मैं, कठगुलाब, भी पति पत्नी के जीवन पर आधारित है। ये उपन्यास पत्नी के हृदय की व्यथा को मार्मिक ढंग से ही प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि स्त्री के साहस और संबल को भी चित्रित करते हैं। लेखिका का मानना है कि पति पत्नी का संबंध सामाजिक मान्यता प्राप्त संबंध है किन्तु अगर रिश्ते में मिठास न हो, तन्मयता न हो तो बस दिखावा ही रह जाता है। 'चित्तकोबरा' उपन्यास की मनु कहती है–"मैं चुपचाप उसे वह सब देने में जुट गयी थी, जो मेरे ख्याल से एक औरत से पति चाह सकता है। सुन्दर सुचारू घर गृहस्थी, साफ स्वस्थ बच्चे, सजी सँवरी, सुघड़ सजग पत्नी। दोस्तों की भरपूर खातिरदारी, सामाजिक मेल–मिलाप। बहुत जल्दी हम

दोनों गोरखपुर के उस छोटे शहर में आदर्श दम्पति की तरह मशहूर हो गये थे।"[6] इस उपन्यास की नायिका मनु उस समाज पर व्यंग्य कर रही है जहाँ पत्नी की पहली प्राथमिकता बताते हुए सुन्दर सुचारु घर गृहस्थी की जिम्मेदारी स्त्री पर डाल दिया जाता है। भले ही पति पारम्परिक संकुचित मानसिकता का परिचायक ही क्यों न हो। मृदुला जी के इस उपन्यास में भी एक नयी स्त्री है जो नवजागरण एवं स्वयं की स्वायत्तता की बात करती है। इस उपन्यास की नायिका के माध्यम से मृदुला जी बताना चाहती हैं कि पति–पत्नी मिलकर ही एक कुटुंब का निर्माण करते हैं अगर उस कुटुंब में दोनों के विचार न मिले, सम्मान न मिले तो उस कुटुंब में साथ रहने का कोई हक नहीं। दोनों ही स्वच्छता से उसे छोड़ सकते हैं। लेखिका ने मनु के माध्यम से साहस औार अस्तित्व चेतना का परिचय समाज के उन स्त्री में भरने का प्रयास किया है जो पितृसत्तात्मक समाज में विरोध करने से डरती है। वह परम्परागत जीवन मूल्यों से समझौता कर लेती है। मृदुला जी इस उपन्यास के छपने पर अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त करती है–"1979 में चित्तकोबरा छपा। जंगल एकजुट होकर मुझ पर टूट पड़ा। यह उपन्यास बर्दाश्त क्यों नहीं होता। इसलिए कि वह मर्द के अहं पर चोट करता है खासकर शादीशुदा मर्द के अहं पर।"[7]

समकालीन परिप्रेक्ष्य में स्त्री वाकई भौतिक आकाश को छूने की कोशिश कर रही है किन्तु धरती पर पुरुषों का वर्चस्व अब भी प्राचीन सदी की भाँति यथावत ही दिखलाई पड़ रहा है। स्त्री की आँखे तो खुलने लगीं किन्तु पुरुष अब भी सदियों की भाँति बेकाबू ही दिख रहा है। प्रभा खेतान का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' भी स्त्री शोषण एवं उसके संघर्ष की तमाम विषयवस्तु पर लिखा गया है। 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया कहती है– "औरत कहाँ नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग ऐश्वर्य के बावजूद पलंग पर रातभर अकेले करवटें बदलते हजारों सालों से इनके आँसू बहते आ रहे हैं।"[8] तथाकथित सभ्य समाज तो केवल दिखावा बनकर रह गया है। अब तो बस पुरुष द्वारा नारी का शोषण और दमन पर पूरे समाज की हिस्सेदारी बनती जा रही है। किन्तु स्त्री सिर्फ भोगेगी नहीं बल्कि अपना अधिकार हासिल कर अपना भाग्य स्वयं निर्मित करेगी। प्रभा जी उपन्यास की नायिका प्रिया के माध्यम से आधुनिक और शिक्षित नारी की मानसिकता को नवीन मोड़ देने का प्रयास करती दिखलाई पड़ती हैं।

अंतिम दशक के महिला उपन्यासकारों ने स्त्री चेतना के लिए जो स्वर मुखरित किया, वह स्त्री की आशाओं, आकांक्षाओं, समस्याओं व मुक्तिमार्ग के लिए क्रांतिकारी परिवर्तन लेकर आया। समकालीन परिप्रेक्ष्य में स्त्री न केवल अपने अस्तित्व को तलाशती दिखी बल्कि स्त्री ने संकोच को त्यागा, स्वयं के लिए सशक्त एवं पुख्ता जमीन भी हासिल कर ली। सदियों से जो गलती पुरुष कर रहे थे उसके अपराधों को गलत ठहराने की हिम्मत स्त्री करने लगी। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास इदन्नमम् और गीताजंलि श्री का उपन्यास 'माई' पुरुष समाज द्वारा निर्मित रीति–रिवाजों के विपरीत जाती स्त्री के साहस का वर्णन करता है। मैत्रेयी

पुष्पा का 'इदन्नमम्' आधुनिक ठंग का सशक्त उपन्यास है। इस उपन्यास में पारंपरिकता के प्रति विरोध दिखलाया गया है। वह परंपरा जो मनुष्य को खासकर स्त्री के लिए जकड़न का कार्य करती आ रही है, अब नये युग में स्त्री नयी जीवन–दृष्टि को लेकर विवेकवान, व्यक्तिवान दिखलाई पड़ती है। स्त्री हर चुनौतियों को नये संदर्भो के साथ व्याख्यायित करती है, इसका सजीव चित्रण उपन्यास में हुआ है। मैत्रेयी पुष्पा स्वयं इस उपन्यास के बारे में कहती हैं–"इदन्नमम में नारी मन की पीड़ा और दर्द, द्वेष, तिस पर सामंती समाज के हिसंक अंतर्विरोधों आदि का बीजारोपण है। इदन्नमम् जो नारी की समाज में सम्मानजनक प्रतिष्ठापना की भूख मेरे प्रत्येक पात्र में मौजूद है चाहे वह इदन्नमम की कुवारी मंदाकिनी हो, बेतवा बहती रही की विधवा उर्वशी हो।"[9] उसी प्रकार गीतांजलि श्री कृत 'माई' उपन्यास में "नयी पीढ़ी का पुरानी से मोहभंग स्त्री की परंपरागत दृष्टि नई नैतिकता के माध्यम से व्यक्तित्व को उभारना, पितृसत्ता के बीच स्त्री की अपने लिए नयी जगह खोजने का प्रयास, सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की पहचान का संकट, स्त्री विमर्श का महत्वपूर्ण बिन्दु है।"[10]

समकालीन लेखिकाओं में चित्रा मुद्गल का स्थान भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से मानवीय भावों की सघन अंतरंगता को चेतन मन से समाज में चित्रित करने की अनोखी पहल दिखाई है। इन्होंने समकालीन यथार्थ को जिस प्रकार अद्भुत संवेदनाओं के साथ अपनी रचनाओं में परत दर परत खोला है वह आश्चर्य चकित करनेवाला है। लेखिका स्वयं कहती है–"लेखन आत्माभिव्यक्ति का जरिया है लेकिन मेरे लिए वह आत्माभिव्यक्ति भर नहीं है, मेरे लिए सर्वोपरि है। आत्माभिव्यक्ति मैं अपने लिए नहीं, पाठकों के लिए करती हूँ। लेखन मेरे लिए आत्मरति नहीं, समाज की जड़ स्थितियों पर प्रहार की तरह है। अपने समय के समाज पर वह मेरा लेखकीय हस्तक्षेप है। हस्तक्षेप से भी दो कदम आगे एक तरह से वह मेरी चेतना का दायित्व है, सामाजिक दायित्व।"[11] लेखिका ने समाजिक दायित्व को निभाने के लिए मुखौटा ओढ़े दिखनौटे समाज को झकझोरकर जगाने का प्रयास किया है। समाज ने स्त्री के स्त्रीत्व पर जो चोट दी है, उसके सम्मान पर जो प्रहार किया है इस पर लेखिका कहती है–"स्त्री क्षमता को उसके देह से ऊपर उठकर स्वीकार्य न करने वाले रूढ़, रूग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा?"[12]

समकालीन लेखिकाओं में स्त्री की भूमिका और अस्तित्व की पहचान हेतु अकुलाहट एवं छटपटाहट है तो दूसरी ओर समाज में पुरुषवादी सोच–विचार वाले लोगों पर गुस्सा। लेखिकाओं ने स्त्री चिंतन के द्वारा मर्दवादी सोच–विचार पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हुए कहा है–"पितृसत्ता अपने को मजबूत बनाने के लिए पहले धर्म का सहारा लेती थी, आज विज्ञान का सहारा लेती है। विज्ञान की मदद से हजारों लाखों की संख्या में लड़कियों की भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं, कहीं भूल से भी वह पैदा हो गई तो कुपोषण की शिकार हो मरे किसी तरह"[13] की बातें होने लगती हैं। लेखिकाओं ने स्त्री पुरुष लिंग भेदभाव के मुद्दे का साहित्य के माध्यम से बखूबी चित्रण किया है। चाहे मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब', 'वंशज' हो

चाहे प्रभा खेतान का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' या चित्रा मुदगल का उपन्यास 'आवां'। ''प्राकृतिक लिंग के आधार पर विवेच्य कालखंड के उपन्यासों में लड़का लड़की में भेदभाव को दर्शाया गया है जिसका असर सामाजिक लिंग पर भी पड़ता है। इन्ही तथ्यों से बचने के लिए लेखिकाओं ने पुनरुत्पत्ति की मॉग उठाई है।''[14]

समकालीन साहित्य में स्त्री वैचारिक धरातल पर चेतित हो गई है या हो रही है। शिक्षित होने के साथ–साथ आत्मनिर्भर पुरुषों के बराबर अर्थार्जन, कंधे से कंधे मिलाकर चलनेवाली जागृत स्त्री बन चुकी है। स्त्री की इन भूमिकाओं के पीछे समकालीन लेखिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही। इन लेखिकाओं ने स्त्री की अस्मिता को समाज में स्थापित करने में अग्रसरता दिखलाई। लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्री की परिवार में बदलती परिस्थितियाँ, स्त्री उत्थान, मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, एवं उसके विकास में बाधा बनती अनेक समस्याओं के गहरे रूप को पहचाना और साहित्य में चित्रित किया।

संदर्भ सूचीः–

1. डॉ. स्नेहलता, समकालीन हिन्दी उपन्यासों में स्त्री विमर्श, राज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–183
2. वही, पृष्ठ संख्या–263
3. वही, पृष्ठ संख्या–163
4. वही, पृष्ठ संख्या–164
5. डॉ. रमेश कुमार, इक्कीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श, पृष्ठ संख्या–202
6. डॉ. उर्मिला शर्मा, स्त्री विमर्श के आयाम : मन्नू भंडारी एवं कृष्णा सोबती के साहित्य का आलोचनात्मक विश्लेषण, हंस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–144
7. आरती शर्मा, मृदुला गर्ग के अपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पब्लिकेशन्स अतुल्य, दिल्ली, पृष्ठ संख्या–89
8. वही, पृष्ठ संख्या–90
9. राजेन्द्र यादव (सं.), स्त्री भूमंडलीकरणः पितृसत्ता के नए रूप (खण्ड–2), अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
10. डॉ. विजयलक्ष्मी शर्मा, डॉ. सुकृति मिश्रा, नारी चिन्तन के विविध आयाम, भारती प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या–101
11. विशेषांक, समकालीन हिन्दी साहित्य और विमर्श मई, 2023
12. दीपक के. आर. समकालीन नारीवादी उपन्यासः एक अध्ययन, पृष्ठ संख्या–3
13. डॉ. उर्मिला शर्मा, स्त्री विमर्श के आयाम : मन्नू भंडारी एवं कृष्णा सोबती के साहित्य का आलोचनात्मक विश्लेषण, हंस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–64
14. वही, पृष्ठ संख्या–82

■

दिव्यांग विमर्श का आलोकवृत और कवि जायसी का रचनालोक

आशुतोष कुमार *

हिंदी साहित्य में दिव्यांग (विकलांग) विमर्श की शुरुआत अभी बहुत पुरानी नहीं है लेकिन इस विमर्श ने अपना भरा–पूरा आकाश निर्मित कर लिया है। इससे जुड़े तमाम बुनियादी सवाल इस समय बीच बहस में हैं। इसी तरह एक सवाल 'दिव्यांग' बनाम 'विकलांग' का है। प्रस्तुत अध्ययन में इस सवाल के कारणों पर विचार करते हुए युक्तियुक्त परिणाम तक पहुँचने का आयास किया गया है। इस अध्ययन में कवि मलिक मुहम्मद जायसी का एक प्रादर्श के रूप में सहेतुक चयन किया गया है। यहाँ अंतर्वस्तु विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का उपयोग करते हुए इस बात की पड़ताल की गई है कि दिव्यांगता को जायसी ने अपनी जीवन और विशेषतः रचनायात्रा में किस प्रकार संदर्भित किया है? अवधी एवं अंग्रेजी भाषा का साधारण ज्ञान तथा वि ायक्षेत्र में गहरी रुचि, इस शोधपत्र की पूर्वापेक्षाएँ हैं। यह शोधपत्र चार हिस्सों में विन्यस्त है। पहले हिस्से में विषय उपस्थापन, दूसरे हिस्से में जायसी की जीवन और रचनायात्रा के लिए दस्तावेजी साक्ष्यों के साथ–साथ जनश्रुतियों की उपयोगिता, कवि जायसी और उनका देशकाल, जायसी की दिव्यांगता और जीवन संघर्ष, तीसरे हिस्से में जायसी के कीर्तिशिखर के अंतर्गत उनकी रचनाओं का सिंहावलोकन, इसी प्रकार चौथे हिस्से में दिव्यांगता और विकलांगता का प्रश्न, निष्कर्ष एवं भविष्यत् संकेत को समादृत किया गया है। जायसी की रचनाओं के उद्धरणों के लिए डॉ. माताप्रसाद गुप्त के आलोचनात्मक संस्करण को तरजीह दी गई है।

विषय उपस्थापन – हिंदी साहित्य में विकलांग (दिव्यांग) विमर्श नेआज अपना भरा–पूरा आकाश निर्मित कर लिया है और इस समय इसके तमाम बिंदु ज़ेर–ए–बहस हैं। दिनांक 27/12/2015 को आकाशवाणी से प्रसारित कार्यक्रम 'मन की बात' में भारत के प्रधानमंत्री ने एक प्रसंग में कहा, "मेरे मन में विचार आया था कि परमात्मा ने जिसको शरीर में कोई कमी दी है, कोई क्षति दी है, एकाध अंग ठीक से काम नहीं कर रहा है – हम उसे विकलांग कहते हैं और विकलांग के रूप में जानते हैं। लेकिन कभी–कभी उनके परिचय में आते हैं तो पता चलता है कि हमें आँखों से से उसकी एक कमी दिखती है, लेकिन ईश्वर ने उसको कोई

* संपर्क : हिन्दी के सहायक आचार्य, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, सांध्यकालीन अध्ययन विभाग, शिमला–171001 (भारत), मो.–8219149886, ई–मेल : sqx`l a`j ct s@ f l `Hebnl

एक्स्ट्रा पॉवर दिया है। एक अलग शक्ति का उसके अंदर परमात्मा ने निरूपण किया होता है, जो अपनी आँखों से हम नहीं देख पाते हैं, लेकिन जब उसे देखते हैं काम करते हुए, उसकी क़ाबिलियत की ओर ध्यान जाता है। अरे वाह, ये कैसे करता है! तो फिर मेरे मन में विचार आया कि आँख से तो हमें लगता है कि शायद वो विकलांग, लेकिन अनुभव से लगता है कि उसके पास कोई एक्स्ट्रा पॉवर, अतिरिक्त शक्ति है। और तब जाकर के मेरे मन में विचार आया, क्यों न हम हमारे देश में विकलांग की ज़गह पर दिव्यांग शब्द का उपयोग करें।"[1] प्रधानमंत्री जी के कथन पर स्वाभाविक रूप से कई अनुक्रियाएँ–प्रतिक्रियाएँ हुईं। दिव्यांगजनों के लिए काम कर रहे विभिन्न संगठनों का तर्क था कि विकलांगता कोई दैवीय उपहार नहीं है, विकलांग व्यक्तियों ने तमाम चुनौतियों से पार पाते हुए अपनी क्षमताएँ सिद्ध की हैं और ये किसी दिव्य शक्ति का परिणाम है, यह कहना सही नहीं।[2] यह इस अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न है।

अध्ययन में अंतर्साक्ष्य और जनश्रुतियों की उपयोगिता – सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहे जाने वाले भक्तिकाल के प्रमुख कवि हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए भक्तिकालीन साहित्य को चार भागों में विभाजित किया जाता रहा है – निर्गुण ज्ञानमार्गी धारा, निर्गुण प्रेममार्गी धारा, सगुण रामभक्ति धारा तथा सगुन कृष्णभक्ति धारा। यह वर्गीकरण सांकेतिक है और जायसी निर्गुण प्रेममार्गी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जायसी पर आगे बात करने से पहले भारतीय साहित्य पर सुप्रसिद्ध भारतविद मोरिज़ विंटरनित्ज की टिप्पणी पर ग़ौर करना मुनासिब होगा–"…that while writing their history, Indians freely mixed facts with phantasy, that they always considered events to be more important than their chronological order and that especially in literary matters they did not at all attach any importance to the question whether a particular event was earlier or later than another. Whatever seems to an Indian to be great, true and right, he pushes into as old an age as possible and if he wants to bestow special sanctity on any particular precept or if he desires that his book be spread most widely and enjoy esteem, then he conceals his name in a modest incognito and mentions some ancient seer as the author of the book. This happens even to this day, it was not much different in the past centuries." Moriz Winternitz (1922).[3]

यह टिप्पणी मैक्समूलर के सहकर्मी रहे विंटरनित्ज ने एक प्रसंग में भारतीयों की इतिहास विषयक उदासीनता का प्रत्याख्यान करते हुए की है। विंटरनित्ज मानते हैं कि भारत में सटीक तिथियों के साथ कई–कई शिलालेख मिलते हैं, ऐसे में उन्हें इतिहास की समझ नहीं है – यह कहना सही नहीं है। भारतीयों ने इतिहास के तथ्यों के साथ कल्पना का मेल कर दिया। भारतीय साहित्य में घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, उनका कालक्रम नहीं। इस नाते वहाँ पूर्वापर क्रम की उपेक्षा परिलक्षित होती है। जो बात भारतीयों को महान, सत्य और वांछनीय लगती है, उसे वे अधिकाधिक पुराने युग में प्रक्षेपित कर देते हैं। इसी तरह वे कथ्य की प्रभविष्णुता के लिए अपने नामादि का गोपन भी करते हैं। यह सब सदियों से लेकर अब तक प्रायः वैसा ही होता आ रहा है। अपनी कतिपय सीमाओं के

बावजूद विंटरनित्ज की मान्यता भक्तिकाल के कवियों पर भी कम–ओ–बेश चरितार्थ होती है, मालिक मुहम्मद जायसी इसका अपवाद नहीं हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जब जायसी ने अपने तमाम समकालीन कवियों की तरह अपने बारे में बहुत कम लिखते हैं तो ऐसे में उनके जीवन व जीवन–संघर्षों के बारे में यथासंभव प्रामाणिकता के साथ कैसे और कितनी बात की जा सकती है? इसके लिए रचनागत अंतर्साक्ष्यों तथा लोकमानस में विद्यमान सूचनाओं के ताने–बाने से ही काम चलाया जा सकता है।

इन दिनों भारतीय ज्ञान–परंपरा विषयक अकादमिक चर्चाओं में 'विद्या ददाति विनयं' को खूब रेखांकित किया जा रहा है जिसके अनुसार विनम्रता नामक गुण, विद्यावान व्यक्ति की पहचान है। विद्या, विनय प्रदान करती है और विनय से पात्रता प्राप्त होती है। जायसी ने स्वयं के लिए 'हौं पंडितन्ह केर पछलगा' कहा है। यानी मैं गुणीजनों का पछलगा (पीछे–पीछे चलने वाला) हूँ। अवधी भाषा में 'पछलगा' शब्द की जैसी विशिष्ट अर्थछवि है तदनुसार जायसी की निरहंकारिता पर बहुत कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। हिंदी आलोचना के पथिकृत आचार्य रामचंद्र शुक्ल का एक कथन इनके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालता है – "गर्वोक्तियों से जायसी बहुत दूर थे। उनके भगवत्प्रेमपूर्ण मानस में अहंकार के लिए कहीं जगह न थी। उनका औदार्य वह प्रच्छन्न औद्धत्य न था जो किसी धर्म को चिढ़ाने के काम में आ सके। उनकी वह उदारता ऐसी थी जिससे कट्टरपन को भी चोट नहीं पहुँच सकती थी। प्रत्येक प्रकार का महत्त्व स्वीकार करने की क्षमता उनमें थी। वीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष पर मुग्ध होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त था।"[4] आचार्य शुक्ल ने अपने आलोचनाकर्म में जायसी की पहचान 'बड़े भावुक भगवद्भक्त और अपने समय के बड़े ही सिद्ध पहुँचे हुए फ़कीर' के रूप में की है। जनश्रुति है कि इनके आशीर्वचनों के पुण्य प्रताप से अमेठी के राजा को संतान–सुख सुलभ हुआ था।

जे मुख देखा तेइ हँसा: *जायसी की दिव्यांगता और जीवन–संघर्ष* – उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं कि जायसी की जीवनयात्रा का पूर्वार्द्ध अत्यधिक संघर्षपूर्ण था। उनके दिव्यांग होने के बारे में कई अंतर्साक्ष्य, बहिर्साक्ष्य एवं जनश्रुतियाँ प्राप्त होती हैं। लोक मान्यता है कि जायसी को बचपन में चेचक रोग हो गया था जिससे उनकी एक आँख नष्ट हो गई थी और चेचक के दानों से उनका चेहरा कुरूप हो गया था। सैयद कल्बे मुस्तफ़ा अपनी उर्दू क़िताब मालिक मुहम्मद जायसी में लिखते हैं – "मलिक लूले, लंगड़े तथा कुब्जापुश्त भी थे।"[5] एक जनश्रुति को हसन देहलवी ने अपनी मसनवी में पिरोया है उसका संबंध जायसी की दिव्यांगता से है। यह मसनवी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग–21, पृष्ठ संख्या 44–45 पर प्रकाशित हुई है। इसके अनुसार, जायसी की कुरूपता को लक्षित कर एक बादशाह हँस पड़ा था। जायसी ने विनम्रतापूर्वक पूछा – *"मोहिं हँसेसि कि कोहरहि?"* अर्थात, आप मुझ पर हँस रहे हैं या उस कुम्हार (गढ़ने वाले ईश्वर) पर? कहा जाता है कि इस प्रश्न पर बादशाह बहुत लज्जित हुआ और उसने क्षमायाचना की। इस प्रसंग को जायसी का

जीवनवृत्त लिखने वाले प्रायः सभी बड़े आलोचकों ने उद्धृत किया है। इसी क्रम में, पदुमावति महाकाव्य का एक प्रसंग है। रतनसेन के जोगी होकर सिंहलद्वीप की ओर गए बहुत दिन बीत चले हैं। उसकी ब्याहता रानी नागमती जार–जार रो रही है और कोई नहीं सुनता। अंततः एक पक्षी को उस पर दया आती है और वह नागमती का संदेश लेकर रतनसेन तक पहुँचता है। रतनसेन को फटकारते हुए वह पक्षी कहता है –*मुहमद बाईं दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।/जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि।।*[6] इस अर्थगर्भित दोहे से जायसी के बाईं आँख और बाएँ कान के कार्यक्षम न होने का सुस्पष्ट संकेत मिलता है।

धनि सो पुरुख जस कीरति जासू:- *जायसी की रचनायात्रा के कीर्तिशिखर*– मलिक मुहम्मद जायसी ने कुल कितने ग्रंथों की खोज की, यह अभी भी अनुसंधान का विषय है। हिंदी के तमाम साहित्येतिहासकारों और अनुसंधाताओं ने लगभग दो दर्जन कृतियों का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ प्राप्त हैं तथा कई खोजे जाने की प्रक्रिया में अब तक हैं। सैयद अली मुहम्मद ने पदुमावति[7], अखरावट, सखरावत, चंपावत, इतरावत, मटकावत, चित्रावत, खुर्वानामा, मोराईनामा, मुकहरानामा, मुखरानामा, पोस्तीनामा, होलीनामा, आखिरी कलाम – जायसी की इन चौदह रचनाओं की सूची प्रस्तुत की है। आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली में नैनावत का भी उल्लेख किया है।[8]इनमें से कई रचनाएँ अब तक अप्राप्य हैं। मुकहरानामा तथा मुखरानामा संज्ञाओं में उच्चारण सामीप्य होने के नाते यह बहुत संभव है कि ये एक ही ग्रंथ हों। चित्ररेखा, मसलानामा, कहरानामा (महरी बाईसी), कन्हावत ग्रंथ अभी कुछ ही दशक पूर्व प्रकाश में आए हैं। जायसी अकुंठ मानुस प्रेम के तत्त्वदर्शी कवि हैं। उनके आखिरी कलाम में सृष्टि के अंत में क्या होता है? क़यामत के समय जिब्राइल जैसे स्वर्गदूत क्या करते हैं? इत्यादि का रोचक वर्णन है। विद्वजनों के चिंतन में जायसी द्वारा चित्रित 'कविलास' की बड़ी चर्चा हुई है। जायसी के यहाँ कविलास, जाड़ा–गर्मी–समशीतोष्णता, रात–दिन, नींद–भूख और दुःख से परे अति सुखकारी आकाशीय लोक है जहाँ नित्य नवीन प्रीति व नेह तथा नित्यप्रति चतुर्गुणित हो उठने वाला 'सनेह' उपलब्ध है।[9] अखरावट में परवरदिगार, गुरु, जीव, ब्रह्म, सृष्टि निर्माण–प्रक्रिया, नश्वर शरीर और प्रेम जैसे वि ायों पर सरस सिद्धांत–कथन हैं। यह शरीर माटी का बना पात्र है, इस माटी में नौ खंड अवस्थित हैं, शरीर और संसार में रहते हुए प्रेम का खेल खेलना है, माटी में प्रचंड (तीव्र) प्रेम विद्यमान है।[10] दोहा, चौपाई और सोरठा छंद में निबद्ध इस रचना में बारह खड़ी की प्रणाली का उपयोग किया गया है। उपर्युक्त दोनों रचनाएँ जायसी की मज़हबी (religious) विचार–सरणि का अच्छा निदर्शन हैं।

महरी बाईसी, बाईस अनुच्छेदों की एक पद्य रचना है। परवर्ती खोजों में यह पता चलता है कि इसका वास्तविक नाम कहरानामा है। कहरानामा अन्योक्तिमूलक काव्य है जिसमें जीवात्मा नववधू है और उसे कहार डोली में बैठाकर प्रियतम (ईश्वर) तक की यात्रा कराते हैं। कहरानामा में एक स्थान पर उल्लेख है कि हे सखी, हे सहेलियों, हे सुहागिनियों तुम सभी इस बात को सुन लो – इस नैहर में (धरती पर) बस चार दिन रहना है, शेष जीवन ससुराल में निर्वाह

करना है।[11] मसलानामा में कवि जायसी ने तत्समय प्रचलित लोकोक्तियों को अपनी मान्यताओं में ढालकर जिस खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया है, इस बात ने उन्हें लोकसाहित्य संकलनकर्ता के रूप में भी पांक्तेय बना दिया है। मसलानामा का पहले छंद में कहा गया है कि यह जो मन है इसे अल्लाह मियाँ से लगाना है। क्योंकि मसला है कि जो जिसका खाता है, उसीका गाता है।[12] इन दोनों रचनाओं के बारे में आलोचक आ. सूर्यप्रसाद दीक्षित का मत उल्लेखनीय है – "जायसी ग्रामीण व्यवस्था के कवि थे। उन्होंने कहार या महरा जाति को निकट से देखा–परखा और कहरानामा अथवा महरी बाईसी में उनकी जातीय संस्कृति का चित्रण किया। उन्होंने लोक जीवन में प्रचलित –टांतों या मसलों को अपनी कविता में ढाल दिया। मसलानामा उनका विशिष्ट प्रयोग है। वस्तुतः उनका काव्य मध्ययुगीन अवध अंचल का सांस्कृतिक प्रतिबिंब है। अवधी भाषा में इतनी रम्य रचना और कोई कवि नहीं कर सका था।"[13]

पदुमावति जायसी की वह अनन्य कृति है जिससे दिक् और काल के प्रसार में उन्हें अपरिमित यश मिला। यह एक विलक्षण प्रेम कथा है जो सूफ़ी प्रेम पद्धति पर पल्लवित हुई है। इस प्रबंध काव्य की कथा दो भागों में विन्यस्त है। प्रथम भाग में, सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के अनिंद्य रूप की हीरामन तोते द्वारा प्रशंसा सुनकर राजा रतनसेन के हृदय में अनुराग का जागरण और तत्पश्चात अपना परिवार व राजपाट छोड़कर तमाम बाधाओं को दैवी कृपा से पार करते हुए पद्मावती से विवाहोपरांत चित्तौरगढ़ लौट आने का कथानक है। दूसरे भाग में, कई घटनाक्रमों के बीच अलाउद्दीन खिलजी का पद्मावती के प्रति कामांध होना, खिलजी द्वारा रतनसेन को छल द्वारा बंदी बना लेना, रतनसेन की वीरगति, तदनंतर नागमती व पद्मावती का सती हो जाना तथा मदांध खिलजी को तथाकथित युद्ध–विजय के बाद राख मिलना समादृत है। पूरे महाकाव्य में प्रेम के दो प्रतिदर्शों के बीच द्वंद्व है। एक ओर प्रेम के लिए राजपाट का त्याग करने वाला नायक रतनसेन है तो दूसरी ओर नायक की प्रतिपक्षता में पशुबल व राजमद से मदांध छलिया खिलजी है। यह प्रतिनायक किसी तरह गढ़ जीत लेने के बाद भी प्रेम के आँगन में बुरी तरह से हार जाता है। पद्मावती और नागमती का अग्निस्नान 'सरग को रतनार' कर नायक के प्रतिदर्श को एक अलौकिक दीप्ति प्रदान करता है। जायसी का जीवन दर्शन, मनुष्य और मनुष्य के बीच अकुंठ प्रेम का जीवन दर्शन है, यह प्रेम अदृष्ट आकाश जितना महिमाशाली है। इस महाकाव्य ने जायसी की यशकाया को मृत्युंजय बना दिया –*धनि सो पुरुख जस कीरति जासू। / फूल मरै पै मरै न बासू।।*[14]

जायसी के कन्हावत में कृष्ण का वृंदावन बिहारी रूप केंद्र में है जहाँ प्रेम, कामनाएँ, योग और शृंगार, इस स्वरूप की परिधि का निर्माण करते हैं। जायसी, पदुमावति की तरह कन्हावत में भी वेद व्यास का बड़े ही आदरपूर्वक उल्लेख है। लोक में तो 'सरगैं नखत तराइन्ह जेती' कृष्ण कथाएँ हैं। जायसी कहते हैं कि मैंने कन्हावत को 'भाषा' में लिखकर सबको सुनाया है। इस संसार में आकर कोई सदा के लिए नहीं रहा।[15] हिंदी के आलोचकीय विवेक ने सूफ़ी कविता में मन–वचन

से रमे कवि जायसी के कृष्ण कथा लिखने के संबंध–सूत्र को लक्षित करते हुए कहा है – "जायसी का दावा रहा है मानुस पेम भयो बैकुंठी। प्रेम का प्रकर्ष है विरहासक्ति। इस दृष्टि से कृष्ण कथा ने जायसी को आकृष्ट किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"[16] इस कथन की तर्क प्रणाली को अग्रवत दृष्टिगत किया जा सकता है –

(अ) मानुस प्रेम >> उसका अकुंठ (वैकुंठी) होना
(ब) प्रेम का प्रकर्ष >> विरहासक्ति
(स) विरहासक्ति >> पदुमावति
(द) विरहासक्ति >> कन्हावत (उभयनिष्ठ तत्त्व)

जायसी को निर्गुण धारा का कवि कहा जाता है। कन्हावत जैसी रचना साहित्येतिहास के ऐसे पारंपरिक नामकरणों के लिए गंभीर चुनौती पेश करती है।

दिव्यांगता अथवा विकलांगता का प्रश्न – कविर्मनीषी मलिक मुहम्मद जायसी भवि यदृष्टि संपन्न व्यक्तित्व हैं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका समग्र मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि "स्मरण रखना चाहिए धर्म से परे मानवीय समता और प्रेम की सैद्धांतिक स्थापना कबीर कर चुके थे। उसे राग के धरातल पर अभी प्रतिष्ठित होना बाकी था। इसे जायसी ने पूरा किया।" आचार्य शुक्ल का साक्ष्य ग्रहण कर कहा जाए तो हिंदी के दो सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की गणना में गण्यमान विभूतियों की उस पंक्ति में जायसी अधिष्ठित हो सकते हैं। भारत जैसे महादेश में यह महत्तम उपलब्धि है।

पूर्वकृत विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जायसी को काने, एक कान से बहरे, बिना हाथ–पाँव के, कुब्जत्व को प्राप्त, चेचक के प्रकोप के कारण कुरूप कहे जाने वाले व्यक्ति थे। यहाँ यह विचारणीय है कि पूर्ववर्ती अनुच्छेद में उल्लिखित तथ्य तथा इन तमाम संभावित अक्षमताओं के एकस्थ समुच्चय में क्या किसी प्रकार का कोई वैपरीत्य मौजूद है? पदुमावति के स्तुति खंड (1/21) में जायसी का निर्भ्रांत कथन है कि एक आँख का होने पर भी मुहम्मद ने काव्य गुना है, जिसने वह काव्य सुना वही मोहित हो गया। इतना ही *नहीं "जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ।।"* यानी, मुहम्मद कवि (स्वयं जायसी) को एक आँख में ही संसार दिखाई देता है, लेकिन वह नक्षत्रों के मध्य शुक्र तारे की भाँति उदित है। मान्यता है कि गुरु शुक्राचार्य एकाक्ष थे, कवि जायसी का स्वयं के लिए शुक्र तारे की उपमा देना, उनके व्यक्तित्व की तरह ही असाधारण है। नभमंडल में शुक्र तारे की भास्वरता, शुक्राचार्य की विद्वत्ता, यहाँ जायसी के पक्ष में एक साथ ध्वनित होती है। बादशाह सहित जिसने भी चेहरा देखा वह हँसा, लेकिन जब एक से एक रूपवंतों ने कविता सुनी तो कोई भी उसके प्रभाव से बच न सका। जायसी की जीवनयात्रा हो अथवा रचनायात्रा, कहीं पर भी हीनताबोध का लेश नहीं मिलता। उनका लेखन शारीरिक अक्षमताओं की कुंठा से मुक्त है। उनके शब्दार्थमय कीर्तिशिखर दिव्यता का संस्पर्श करते हैं। जायसी का आत्मविश्वास अद्‌भुत है। वे उपहास का विषय बनने के स्थान पर बादशाह तक को निरुत्तर कर देते हैं। यह आत्मविश्वास बड़े महत्त्व की वस्तु है। भाषा के इदारे में जब

विकलांग शब्द का प्रयोग होता है तब वहाँ व्यक्ति विशेष की हीनता को इंगित किया जा रहा होता है। दिनानुदिन हीनता को इंगित किया जाना, व्यक्ति में निहित आत्मविश्वास का उपकारक भला कैसे हो सकता है?

निष्कर्ष – तमाम आग्रहों को दरकिनार कर यदि तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाए तो यह सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि शब्द विशेष अपनी अर्थ–प्रक्रिया में, प्रयुक्ति का संदर्भ ग्रहण करते हुए विशिष्ट को संबोधित करता है। भाषा के दायरे में, तकनीकी तौर पर एक ओर जहाँ 'विकलांग' शब्द अंग विशेष की अक्षमता/अंगहीनता को संबोधित करता है तो वहीं 'दिव्यांग' शब्द मनुष्य में उस विशिष्ट शक्ति को संबोधित करता है जिसकी दीप्ति अक्षमता से पार जाते ही चमत्कृत करने लगती है। हमारी सम्मिलित समझ (collective wisdom) अभी उस समझदारी को प्राप्त करने की प्रक्रिया में है जहाँ 'दिव्यांग' शब्द किसी प्रकार की हेयता की छाया से मुक्त होकर अपनी अर्थ–गरिमा को प्राप्त कर सकेगा।

अध्ययन क्षेत्र में संभावना निर्देश– इस अध्ययन के दौरान जायसी की रचना चित्रावत के अतिरिक्त कन्हावत का परमेश्वरीलाल गुप्त जी वाला संस्करण उपलब्ध न हो सका। हिंदी आलोचना के आम्नायों में कन्हावत पर अभी अपेक्षित चर्चा नहीं हो सकी है। कन्हावत के भाष्य एवं पाठ केंद्रित आलोचना का अवकाश बराबर बना हुआ है। अध्ययन क्रम में जिन ग्रंथों की लब्धि हुई है, उनकी सांकेतिक सूची भविष्य के अध्ययनों में उपादेय हो सकती है। सूची इस प्रकार है –स्थान स्थान पर कन्हावत (डॉ. शिवसहाय पाठक जी वाला संस्करण), सुश्री नरगिश आब्दी का लघु शोध प्रबंध (अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय), श्री चमन लाल शर्मा का शोध प्रबंध (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय), सुश्री उमा कांति देवी का शोध प्रबंध (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) कन्हावत के विविध पक्षों पर केंद्रित है। अब्दुल रहीम के 'कृष्ण काव्य में भावात्मक एकता' विषयक शोध प्रबंध (जामिया विश्वविद्यालय) में भी कन्हावत की अच्छी समीक्षा की गई है। पदुमावति तथा अन्य रचनाओं में दिव्यांगता के बहुविध संदर्भ उपलब्ध हैं जो प्रतीकों, बिंबों, उपमेय अथवा उपमानों के रूप में हो सकते हैं। इनके पाठ केंद्रित एकस्थ अध्ययन की अच्छी संभावना विद्यमान है।

संदर्भ सूची –

1. आकाशवाणी से प्रसारित 'मन की बात' के अविकल ऑडियो पाठ के लिए द्रष्टव्य : https://www.youtube.com/live/z3QVEAzq4FM?si=UYx7D8hHiuCLlsXa14:02
2. बीबीसी की ख़बर के लिए द्रष्टव्य : https://www.bbc.com/hindi/india/2016/01/160123_disabled_community_objection_divyang_pm_ml
3. Maurice Winternitz, A History of Indian Literature Vol 1, Translation from original German by V. Srinivasa Sarma, Motilal Banarsidas Publishers, First Edition, 1981, page 25-26.
4. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र (सं.), भूमिका (संवत् 1992), जायसी ग्रंथावली, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृष्ठ–29
5. मुस्तफ़ा, सैयद कल्बे, मालिक मुहम्मद जायसी, अंजुमन तरक्क़ी उर्दू (हिंद), देहली, संस्करण–1941, पृष्ठ–21 (द्वितीयक स्रोत से उद्धत)

6. जायसी, मालिक मुहम्मद, पदमावत, (व्या.) अग्रवाल, वासुदेवशरण, साहित्य सदन, झाँसी, संस्करण–2007, पृष्ठ–369
7. पदुमावति के नवीनतम आलोचनात्मक संस्करण (Critical Edition) में पाठालोचक ने शाह मतीन जायसी तथा अंबिकानाथ सिंह वाली प्रतियों के आधार पर इस प्रबंधकाव्य का वास्तविक नाम पद्मावत के स्थान पर पदुमावति होना सिद्ध करते हैं। द्रष्टव्य : सिंह, डॉ. कन्हैया, पदुमावति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण–2010, पृष्ठ–2
8. "जायस वाले इन तीन (पद्मावत, अखरावट, आख़िरी कलाम) पुस्तकों के अतिरिक्त जायसी की दो और पुस्तकें बताते हैं – पोस्तीनामा तथा नैनावत नाम की प्रेमकहानी।" द्रष्टव्य : उपर्युक्त, पृष्ठ – 30
9. "निति पिरीति नित नव नव नेहू। निति उठि चौगुन जोरे सनेहू।।" आ. शुक्ल के यहाँ 'चौगुन जोरे' के स्थान पर 'चौगुन होइ' पाठ है। गुप्त जी द्वारा गृहीत पाठ का सटीक अर्थ न लग सका। द्रष्टव्य : जायसी,मालिक मुहम्मद, आख़िरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, (सं.) डॉ. माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1951, पृष्ठ–708
10. "माटी कर तन भाँड़ा माटी महँ नव खंड। जे केहु खेलै माटि महँ माटी प्रेम प्रचंड।।" द्रष्टव्य : जायसी,मालिक मुहम्मद, अखरावट, जायसी ग्रंथावली, (सं.) डॉ. माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1951, पृष्ठ–676
11. "सखी सहेली सुनहु सोहागिनि सब कोउ अइसि बियाही रे। नैहर दिवस चारि लै रहना ससुरें ओर निबारी रे।।" द्रष्टव्य : जायसी, मालिक मुहम्मद, महरी बाईसी, जायसी ग्रंथावली, (सं.) डॉ. माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1951, पृष्ठ–715
12. "यह मन अलह मियाँ ते लाई। जेहिका खाई तेहिका गाई।।" द्रष्टव्य : 'अमरेश', अमरबहादुर सिंह, कहरानामा और मसलानामा, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहबाद, प्रथम संस्करण, वर्ष–1962, पृष्ठ–101
13. दीक्षित, आ. सूर्यप्रसाद, हिंदी साहित्येतिहास की भूमिका, भाग–2 , उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, वर्ष–2008, पृष्ठ–89
14. जायसी, मालिक मुहम्मद, पद्मावत, जायसी ग्रंथावली, (सं.) डॉ. माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1951, पृष्ठ–555
15. मुहम्मद कवि कन्हावत गाई। रस भाखा के सभौं सोनाई।।
यह सयँसार चलन कै छाँहा। रहा न कोइ आइ जग माहाँ।।
पाठक, शिवसहाय, कन्हावत, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1981, पृष्ठ – 255
16. दीक्षित, आ. सूर्यप्रसाद, हिंदी साहित्येतिहास की भूमिका, भाग–2, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, वर्ष–2008, पृष्ठ–89
17. सिंह, डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संशोधित संस्करण–2000, पृष्ठ–107

■

एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

अंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धातों का विश्लेषण

शशिकांत कुमार *

डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांत के प्रणेता एवं भारतीय संविधान के शिल्पकार थे, जो एक प्रमुख भारतीय समाजसुधारक और दलित बौद्ध आंदोलन के संस्थापक थे। आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांत पर समाज में व्याप्त असमानता और उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए सकारात्मक कार्य किये है। उन्होंने तर्क दिया कि जाति व्यवस्था एक संरचित और संस्थागत प्रणाली है जो समाज के कुछ वर्गों को दूसरों पर श्रेष्ठता का दावा करने की अनुमति देती है, जिससे सामाजिक और आर्थिक असमानता पैदा होती है। आंबेडकर के अनुसार, सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए, यह आवश्यक है कि समाज में व्याप्त भेदभावपूर्ण और उत्पीड़नकारी संरचनाओं को चुनौती दी जाए और बदला जाए। उन्होंने तर्क दिया कि यह केवल कानूनी और संवैधानिक परिवर्तनों के माध्यम से ही हासिल किया जा सकता है, जो समाज के सभी सदस्यों को समान अधिकार और अवसर प्रदान करते हैं। इसके अलावा, आंबेडकर ने समानता की अवधारणा पर जोर दिया, जिसे उन्होंने सामाजिक न्याय के सिद्धांत के लिए केंद्रीय माना। उन्होंने तर्क दिया कि समानता केवल तब हासिल की जा सकती है जब समाज में व्याप्त भेदभावपूर्ण और उत्पीड़नकारी संरचनाओं को समाप्त कर दिया जाए और सभी व्यक्तियों को समान अधिकार और अवसर प्रदान किए।

प्रस्तावना – डॉ. भीमराव आंबेडकर (1891–1956) भारतीय समाज के प्रमुख समाज सुधारक, विधिवेत्ता, और संविधान निर्माता थे। उनका जन्म एक दलित परिवार में हुआ था, जो तत्कालीन समाज में अछूत माने जाते थे। सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारण उन्होंने अपने जीवन की कठिनाइयों का सामना किया। इसके बावजूद, उनकी बुद्धिमत्ता और दृढ़ संकल्प ने उन्हें एक उत्कृष्ट शिक्षाविद् और समाज सुधारक बनने के लिए प्रेरित किया।डॉ. आंबेडकर ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा भारत में प्राप्त की और बाद में उच्च शिक्षा के लिए विदेश गए। उन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क से अर्थशास्त्र में मास्टर डिग्री और पीएच.डी. की डिग्री प्राप्त की। इसके बाद, उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स

* संपर्क : शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

से कानून, अर्थशास्त्र, और राजनीति विज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त की। उनकी शैक्षणिक योग्यता ने उन्हें भारतीय समाज में एक उच्च स्थान दिलाया, जिससे वे अपने समुदाय के अधिकारों के लिए प्रभावी ढंग से लड़ सके।आंबेडकर ने अपने जीवन को सामाजिक भेदभाव, विशेषकर जाति–आधारित भेदभाव के खिलाफ संघर्ष को समर्पित कर दिया। उन्होंने भारतीय समाज में दलितों की स्थिति में सुधार लाने के लिए कई आंदोलन और अभियान चलाए। वे मानते थे कि सामाजिक सुधार केवल कानूनी बदलावों के माध्यम से ही संभव है, इसलिए उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय, समानता, और बंधुत्व के सिद्धांतों को प्रमुख स्थान दिया गया, जो आज भी भारतीय लोकतंत्र की नींव हैं (Ambedkar & Khan, 2022)।

डॉ.आंबेडकर का मानना था कि समाज में वास्तविक समानता और न्याय तभी संभव है जब सभी नागरिकों को समान अवसर और अधिकार मिलें। उन्होंने 'एक व्यक्ति, एक मूल्य' की अवधारणा को बढ़ावा दिया, जो हर व्यक्ति की गरिमा और मूल्य को समान मान्यता देती है। उनकी दृष्टि एक ऐसे समाज की थी जिसमें जाति, धर्म, और लिंग के आधार पर भेदभाव का कोई स्थान न हो। आंबेडकर ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में बौद्ध धर्म अपनाया और इसे एक सामाजिक आंदोलन के रूप में देखा। उन्होंने दलितों को जाति व्यवस्था से मुक्ति दिलाने के लिए बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उनका मानना था कि बौद्ध धर्म के सिद्धांत जैसे अहिंसा, करुणा, और समता समाज में वास्तविक न्याय और समानता ला सकते हैं (D. K. Sharma इत्यादि)।

शोध की आवश्यकता – डॉ. आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांत आज के समय में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। भारतीय समाज में जाति–आधारित भेदभाव, लिंग असमानता, और सामाजिक अन्याय जैसी समस्याएँ अभी भी व्याप्त हैं। इन समस्याओं का समाधान आंबेडकर के सिद्धांतों में खोजा जा सकता है। उनके विचार न केवल कानूनी और राजनीतिक सुधारों के लिए मार्गदर्शक हैं, बल्कि सामाजिक संरचना के सुधार के लिए भी आवश्यक हैं। आधुनिक समाज में आंबेडकर के विचारों का पुनर्मूल्यांकन और उनका व्यापक अध्ययन आवश्यक है ताकि उनकी प्रासंगिकता और प्रभाव को समझा जा सके। यह अध्ययन समाज के विभिन्न पहलुओं पर आंबेडकर के विचारों का प्रभाव और उनकी प्रासंगिकता को उजागर करेगा। इसके साथ ही, यह शोध पत्र आंबेडकर के सिद्धांतों को एक नए दृष्टिकोण से समझने और उनके सामाजिक सुधारों की दिशा में नए रास्ते खोलने में सहायक होगा।

उद्देश्य – इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना है। यह अध्ययन आंबेडकर के सिद्धांतों की गहराई और व्यापकता को समझने में सहायक होगा। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित अनुसंधान प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा।

1.आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांत क्या हैं, और वे भारतीय समाज में कैसे लागू होते हैं?

2.समानता के प्रति आंबेडकर के दृष्टिकोण को कैसे परिभाषित किया जा सकता है, और यह वर्तमान सामाजिक संरचना में कैसे प्रासंगिक है?

3.आंबेडकर के सिद्धांतों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करने के लिए कौन–कौन से सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक कारक महत्वपूर्ण हैं?

4.आंबेडकर के विचारों का आधुनिक भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है, और ये विचार भविष्य में सामाजिक सुधारों के लिए कैसे उपयोगी हो सकते हैं?

अनुसंधान पद्धति – यह शोध कार्य वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है। इस अध्ययन में डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों का गहराई से विश्लेषण किया गया, ताकि उनकी प्रासंगिकता और प्रभाव को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझा जा सके। आंबेडकर के विचारों पर लिखी गई प्रमुख पुस्तकों, शोध पत्रों, और लेखों का अध्ययन किया गया। और भारतीय संविधान, सरकारी रिपोर्ट्स, और नीतियों का विश्लेषण किया गया है, जो सामाजिक न्याय और समानता से संबंधित हैं।

साहित्य समीक्षा – सामाजिक न्याय के सिद्धांत – डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर कई अध्ययन और शोध कार्य किए गए हैं। इन सिद्धांतों का मुख्य उद्देश्य जाति, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव को समाप्त करना और समाज में सभी के लिए समान अवसर और अधिकार सुनिश्चित करना है। आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित कुछ प्रमुख अध्ययन इस प्रकार हैं–

जाति उन्मूलन पर आंबेडकर का दृष्टिकोणरू आंबेडकर ने जाति प्रथा को भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई माना और इसके उन्मूलन के लिए अनेक संघर्ष किए। उनके लेखन और भाषणों में जाति उन्मूलन की स्पष्ट व्याख्या मिलती है (Thiagaraj, 2007)।

सामाजिक न्याय के लिए संवैधानिक उपाय– आंबेडकर ने भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को शामिल किया, जिनमें आरक्षण नीति, मौलिक अधिकार, और समानता के अधिकार शामिल हैं। इस पर कई विद्वानों ने अध्ययन किया है, जिसमें आंबेडकर के संवैधानिक योगदान की व्यापक समीक्षा की गई है (Bhattacharjea & Study, 1997)।

शिक्षा का महत्व : आंबेडकर ने शिक्षा को सामाजिक सशक्तिकरण का मुख्य साधन माना। उन्होंने शिक्षा के माध्यम से दलितों और पिछड़े वर्गों को जागरूक और सशक्त करने पर जोर दिया(Tomar & S, 2010)।

समानता के सिद्धांत – समानता के सिद्धांतों पर आंबेडकर के योगदान को लेकर भी व्यापक शोध कार्य हुआ है। आंबेडकर का मानना था कि समानता का अर्थ केवल कानूनी समानता नहीं है, बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता भी महत्वपूर्ण है। उनके समानता के सिद्धांतों पर आधारित कुछ प्रमुख अध्ययन इस प्रकार हैं –

लिंग समानता – आंबेडकर ने महिलाओं के अधिकारों के लिए भी संघर्ष किया और भारतीय संविधान में महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान किए। उनके इस योगदान पर कई विद्वानों ने गहन अध्ययन किया है (Chakravarti, 2013)।

आर्थिक समानता – आंबेडकर ने आर्थिक समानता पर जोर दिया और माना कि आर्थिक असमानता सामाजिक असमानता का प्रमुख कारण है। उनके विचारों पर आधारित अध्ययन में आर्थिक सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया गया है(H. D. Sharm, 2002)।

सामाजिक लोकतंत्र – आंबेडकर ने सामाजिक लोकतंत्र को सामाजिक न्याय और समानता के लिए महत्वपूर्ण माना। उनका मानना था कि बिना सामाजिक लोकतंत्र के, राजनीतिक लोकतंत्र असफल हो जाएगा। इस पर आधारित अध्ययन ने सामाजिक लोकतंत्र की अवधारणा और इसके प्रभाव का विश्लेषण किया है (Begari, 2021)।

आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांत – डॉ. भीमराव आंबेडकर ने जाति प्रथा को भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई माना और इसके उन्मूलन के लिए जीवनभर संघर्ष किया। उनके अनुसार, जाति व्यवस्था न केवल सामाजिक भेदभाव को बढ़ावा देती है बल्कि समाज में असमानता और अन्याय को भी जन्म देती है। आंबेडकर ने जाति उन्मूलन के सिद्धांतों का विस्तृत विश्लेषण किया है। आंबेडकर ने जाति व्यवस्था को एक सामाजिक बुराई के रूप में खारिज किया और इसे खत्म करने के लिए हर संभव प्रयास किए। उन्होंने अपने लेख 'एन्निहिलेशन ऑफ कास्ट' में जाति प्रथा की कड़ी आलोचना की और इसके उन्मूलन की वकालत की। आंबेडकर का मानना था कि जाति प्रथा का मूल धार्मिक ग्रंथों में है और इसे समाप्त करने के लिए धर्म में सुधार की आवश्यकता है। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपनाया और दलितों को भी इसके लिए प्रेरित किया, क्योंकि बौद्ध धर्म में जाति भेदभाव का कोई स्थान नहीं है। आंबेडकर ने संविधान में जाति आधारित भेदभाव को समाप्त करने के लिए कई कानूनी प्रावधान किए। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता को समाप्त किया गया और जाति भेदभाव के खिलाफ कठोर कानून बनाए गए(Jaffrelot, 2006)।

सामाजिक लोकतंत्र – सामाजिक लोकतंत्र के माध्यम से समानता प्राप्त करने के लिए आंबेडकर का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण था। उनका मानना था कि सामाजिक लोकतंत्र के बिना, राजनीतिक लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। आंबेडकर के सामाजिक लोकतंत्र के सिद्धांतों समानता, स्वतंत्रता, और बंधुत्व हैं, आंबेडकर ने समानता, स्वतंत्रता, और बंधुत्व को सामाजिक लोकतंत्र के स्तंभों के रूप में माना। उनका मानना था कि इन मूल्यों के बिना, समाज में वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। आंबेडकर ने एक समावेशी समाज की वकालत की, जहां सभी वर्गों, जातियों, और लिंगों के लोगों को समान अवसर और अधिकार मिलें। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक सुधारों के माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त करने की कोशिश की। आंबेडकर ने भारतीय संविधान में कई संवैधानिक प्रावधान किए, जो सामाजिक लोकतंत्र को सुनिश्चित करते हैं। इनमें मौलिक

अधिकार, समानता का अधिकार, और सामाजिक न्याय के लिए विशेष प्रावधान शामिल हैं (Chitkara, 2002)।

आंबेडकर के समानता के सिद्धांत – लिंग समानता

डॉ. भीमराव आंबेडकर महिलाओं के अधिकारों और समानता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने भारतीय संविधान में महिलाओं के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण प्रावधान किए। आंबेडकर ने हिन्दू कोड बिल की वकालत की, जिसका उद्देश्य महिलाओं को संपत्ति के अधिकार, तलाक का अधिकार, और अन्य कानूनी अधिकार प्रदान करना था। इस बिल का उद्देश्य हिन्दू समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारना था। आंबेडकर ने महिलाओं की शिक्षा पर जोर दिया। उनका मानना था कि महिलाओं की शिक्षा न केवल उनके व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यक है, बल्कि समाज के समग्र विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है। आंबेडकर ने महिलाओं के लिए समान अवसर और अधिकारों की वकालत की। उनका मानना था कि समाज में वास्तविक समानता तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती जब तक महिलाओं को समान अवसर और अधिकार नहीं मिलते (DharabR;kfn, 2010)।

आर्थिक समानता – आंबेडकर का मानना था कि आर्थिक समानता के बिना सामाजिक न्याय और समानता प्राप्त नहीं की जा सकती। उन्होंने आर्थिक सुधारों के माध्यम से सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने का प्रयास किया। आंबेडकर के आर्थिक समानता के सिद्धांत मंल संपत्ति के पुनर्वितरण की आवश्यकता की बात पर जोर दिया। उनका मानना था कि समाज में संपत्ति का असमान वितरण आर्थिक असमानता का प्रमुख कारण है, और इसे सुधारने के लिए संपत्ति का पुनर्वितरण आवश्यक है।डॉ. आंबेडकर ने श्रमिकों के अधिकारों की वकालत की। उन्होंने श्रमिकों के लिए बेहतर कार्य स्थितियों, उचित वेतन, और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार, श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा किए बिना आर्थिक समानता प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक सुरक्षा के लिए डॉ. आंबेडकर ने सामाजिक सुरक्षा के प्रावधानों की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका मानना था कि गरीबों और हाशिए पर खड़े लोगों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना आवश्यक है ताकि वे सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त हो सकें (Mishra, 2010)।

समान अवसर – डॉ. आंबेडकर ने सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए समान अवसर और अधिकारों की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने माना कि बिना समान अवसरों के, समाज में वास्तविक समानता प्राप्त नहीं की जा सकती। समान अवसरों की प्राप्ति के लिए आंबेडकर के दृष्टिकोण से आरक्षण एक महत्वपूर्ण रास्ता हैआंबेडकर ने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए शैक्षणिक संस्थानों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की वकालत की। यह आरक्षण नीति सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों को समान अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया, जिसमें समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार,

और शोषण के खिलाफ अधिकार शामिल हैं। ये अधिकार सभी नागरिकों को समान अवसर और अधिकार सुनिश्चित करते हैं। समानता के बारे में आंबेडकर का मानना था कि समानता का अर्थ केवल कानूनी समानता नहीं है, बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक सुधारों के माध्यम से समानता की प्राप्ति पर बल दिया (Thorat इत्यादि, 2005)।

शैक्षिक सुधार – शिक्षा को डॉ. आंबेडकर ने सामाजिक न्याय और समानता प्राप्त करने का प्रमुख साधन माना। उन्होंने शिक्षा के माध्यम से समाज में व्याप्त असमानता और अन्याय को समाप्त करने के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए। शैक्षिक अवसरों की उपलब्धता के बारे में भीमराव आंबेडकर ने सभी वर्गों, विशेषकर दलितों और पिछड़े वर्गों के लिए शैक्षिक अवसरों की उपलब्धता पर जोर दिया। उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशी विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया और अपने समुदाय के लोगों को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। आंबेडकर का मानना था कि शिक्षा के माध्यम से ही दलित और पिछड़े वर्ग समाज में अपनी पहचान और अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकते हैं। उन्होंने शिक्षा को सामाजिक सशक्तिकरण का प्रमुख साधन माना। आंबेडकर ने शैक्षणिक संस्थानों में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने दलित और पिछड़े वर्गों के लिए विशेष छात्रवृत्ति और आरक्षण की व्यवस्था की, ताकि वे उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें (D. K. Sharma इत्यादि, द.क.)।

डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांत जाति उन्मूलन, समान अवसर, और शैक्षिक सुधार पर आधारित हैं। उन्होंने अपने जीवनभर इन सिद्धांतों को लागू करने और समाज में समानता और न्याय स्थापित करने के लिए संघर्ष किया। आंबेडकर के विचार और प्रयास आज भी भारतीय समाज के सुधार और विकास के लिए प्रासंगिक हैं। उनके सिद्धांत न केवल भारतीय संविधान की नींव हैं, बल्कि सामाजिक सुधारों के लिए एक मार्गदर्शक भी हैं।

सामाजिक प्रभाव – आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों का भारतीय समाज पर महत्व पूर्ण प्रभाव पड़ा है। उनके विचारों ने न केवल दलित और वंचित समुदायों के उत्थान के लिए आंदोलन को आकार देने में मदद की, बल्कि भारतीय समाज को अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। डॉ.आंबेडकर के सिद्धांतों ने भारतीय समाज को प्रभावित किया है। आंबेडकर के विचारों ने दलित और वंचित समुदायों के उत्थान के लिए आंदोलन को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने दलितों के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी और उन्हें शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक पहुंच प्रदान करने के लिए काम किया। आंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांतों ने भारतीय समाज में व्याप्त असमानता और उत्पीड़न को चुनौती देने में मदद की। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक न्याय के लिए लड़ाई लड़ी और समाज में व्याप्त भेदभावपूर्ण और उत्पीड़नकारी संरचनाओं को बदलने केलिए काम किया (Jaffrelot, 2006)। आंबेडकर ने शिक्षा और सशक्तिकरण के महत्व

पर जोर दिया। उन्होंने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली साधन माना और वंचित समुदायों के लिए शिक्षा तक पहुंच को बढ़ावा दिया। आंबेडकर के सिद्धांतों ने भारतीय संविधान को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों को संविधान में शामिल करने के लिए काम किया। आंबेडकर के सिद्धांतों ने वंचित समुदायों के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व को बढ़ावा दिया। उन्होंने वंचित समुदायों के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व के महत्व पर जोर दिया और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए काम किया। कुल मिलाकर, आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों का भारतीय समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उनके विचारों ने न केवल दलित और वंचित समुदायों के उत्थान के लिए आंदोलन को आकार देने में मदद की, बल्कि भारतीय समाज को अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई (Chitkara, 2002)।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण – सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण से आंबेडकर के विचारों का अध्ययन करते हुए समाज के विभिन्न पहलुओं को समझा जा सकता है। आंबेडकर के विचारों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण सामाजिक संरचना, जाति व्यवस्था, और सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में किया गया है। आंबेडकर के संवैधानिक योगदान का समाजशास्त्रीय विश्लेषण भारतीय समाज में सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों की प्रासंगिकता को दर्शाता है। आंबेडकर के शिक्षा संबंधी विचारों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा की भूमिका को उजागर करता है (Jatava, 2001)।

निष्कर्ष : डॉ. भीमराव आंबेडकर के समानता के सिद्धांत लिंग समानता, सामाजिक लोकतंत्र, और आर्थिक समानता पर आधारित हैं। उन्होंने इन सिद्धांतों को लागू करने और समाज में वास्तविक समानता और न्याय स्थापित करने के लिए जीवनभर संघर्ष किया। आंबेडकर के विचार और प्रयास आज भी भारतीय समाज के सुधार और विकास के लिए प्रासंगिक हैं। उनके सिद्धांत न केवल भारतीय संविधान की नींव हैं, बल्कि सामाजिक सुधारों के लिए एक मार्गदर्शक भी हैं। उनके समानता के सिद्धांतों का गहन अध्ययन और अनुसरण समाज में व्याप्त असमानताओं और अन्याय को समाप्त करने के लिए महत्वपूर्ण है। डॉ. भीमराव आंबेडकर के सामाजिक न्याय और समानता के सिद्धांतों पर व्यापक साहित्य उपलब्ध है। इन सिद्धांतों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण भारतीय समाज में सुधार और परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण है। आंबेडकर के विचार न केवल भारतीय संविधान की नींव हैं, बल्कि वे आधुनिक समाज में भी प्रासंगिक हैं।

संदर्भ सूची –

1. Ambedkar, S., & Khan, N. (2022). *Babasaheb: My Life With Dr Ambedkar*. Penguin Random House India Private Limited. https://books.google.co.in/books?id=diyWEAAAQBAJ

2. Begari, J. (2021). *B.R. Ambedkar and Social Transformation: Revisiting the Philosophy and Reclaiming Social Justice*. Taylor & Francis. https://books.google.co.in/books?id=hqw_EAAAQBAJ

3. Bhattacharjea, A., & Study, I. I. of A. (1997). *Social Justice and the Constitution*. Indian Institute of Advanced Study. https://books.google.co.in/books?id=B_nZAAAAMAAJ

4. Chakravarti, U. (2013). *Conceptualising Brahmanical Patriarchy in Early India: Gender, Caste, Class and State*. Critical Quest. https://books.google.co.in/books?id=xG0srgEACAAJ

5. Chitkara, M. G. (2002). *Dr. Ambedkar and Social Justice*. A P H Publishing Corporation. https://books.google.co.in/books?id=riTiTry4U3EC

6. Dhara, L., Commerce, D. A. C. of, & Economics. (2010). *Bharat Ratna Dr. Babasaheb Ambedkar and Women's Question*. Dr. Ambedkar College of Commerce & Economics. https://books.google.co.in/books?id=x71InQEACAAJ

7. Jaffrelot, C. (2006). *Dr Ambedkar and Untouchability: Analysing and Fighting Caste*. Permanent Black. https://books.google.co.in/books?id=zEWTSAe-KkQC

8. Jatava, D. R. (2001). *Sociological Thoughts of B.R. Ambedkar*. ABD Publishers. https://books.google.co.in/books?id=ztPAAAAACAAJ

9. Mishra, S. N. (2010). *Socio-economic and Political Vision of Dr. B.R. Ambedkar*. Concept Publishing Company. https://books.google.co.in/books?id=N2XLE22ZizYC

10. Sharma, D. K., Debnath, D., & Saxena, M. (n.d.). *Dr. B.R. Ambedkar: Education, Equality and Empowerment*. Krishna Publication House. https://books.google.co.in/books?id=kmpvEAAAQBAJ

11. Sharma, H. D. (2002). *B.R. Ambedkar: A Crusader for Equality*. Rupa & Company. https://books.google.co.in/books?id=zVImAAAACAAJ

12. Thiagaraj, H. (2007). *Human Rights from the Dalit Perspective*. Gyan Publishing House. https://books.google.co.in/books?id=inAMAQAAMAAJ

13. Thorat, S., Negi, P., & Studies, I. I. of D. (2005). *Reservation and Private Sector: Quest for Equal Opportunity and Growth*. Rawat Publications [in association with] Indian Institute of Dalit Studies, New Delhi. https://books.google.co.in/books?id=NnTaAAAAMAAJ

14. Tomar, J. P. S., & S, J. P. (2010). *Dr Ambedkar S Thought On Education*. Commonwealth Publishers. https://books.google.co.in/books?id=mYhOYgEACAAJ

■

दलित चिंतन

समकालीन दलित कहानी और जाति का प्रश्न

ज्ञान प्रकाश *

समकालीन हिन्दी कहानी मूलतः विमर्शों की उपज है जिसके अंतर्गत स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श से संचालित कहानियों की प्रधानता है। इसमें दलित विमर्श की कहानियाँ परिमाण और प्रभाव की दृष्टि से सर्वाधिक चर्चित हुई हैं। दलित– चेतना से संबद्ध कहानियाँ कथासम्राट प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव, आदि रचनाकारों ने जरूर लिखी हैं लेकिन दलित विमर्श के बाद दलित रचनाकारों द्वारा लिखी गई कहानियों को ही 'दलित–कहानी' माना गया है। दलित कथा–आलोचकों का मानना है कि 'दलित विमर्श' के पूर्व दलित समस्या को केंद्र में रखकर लिखी गई कहानियों में 'ग्लानि भाव' की अभिव्यक्ति मात्र है। वास्तव में समानता, अधिकार चेतना, आक्रोश और स्वानुभूत भाव–चेतना को दलित रचनाकारों ने ही रचा है ।

समकालीन दलित कहानी (1980–2019) ने 'वर्गीय –शोषण' की मार्क्सवादी अवधारणा को खारिज करते हुए 'जाति आधारित वर्णाश्रम' व्यवस्था को दलित–समस्या का मुख्य कारण माना है। इन कहानियों में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आधार पर होने वाले शोषण के स्थान पर जाति विशेष के कारण होने वाले शोषण को अभिव्यक्त किया है और इस तरह साहित्य में जाति के प्रश्न को स्थापित करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इस दौर की दलित कहानी में जातीय–प्रतिरोध, जातीय–गौरव बोध, और जातिगत शोषण व्यवस्था के खिलाफ गहरा आक्रोश दर्ज हुआ है। हिन्दी साहित्य इतिहास में प्रगतिशील चेतना ने जिस 'वर्ग–संघर्ष' को केन्द्रीय धारा बनाया था उसे तोड़ते हुए समकालीन दलित कहानी 'जातीय–चेतना' में परिवर्तित करने की पहल करते दिखते हैं। इस नए साहित्यिक प्रयोग का मुख्य धारा के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है और इससे हिन्दी कहानी की भाव चेतना और भाषा–शिल्प पर किस प्रकार का प्रभाव होगा? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

प्रस्तावना : 'जाति' भारतीय सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण घटक है। जाति–व्यवस्था हमारे समाज की वह कड़वी सच्चाई है जिसे न चाहते हुए

* संपर्क : ए–59, तीसरा तल, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर–iv, नई दिल्ली–110024 मो.नं–8527890519

भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। तमाम परिवर्तनों के बाद भी जाति आधृत भारतीय समाज–संरचना में कोई बड़ा बदलाव लक्षित नहीं हुआ है। पूरा भारतीय समाज आज भी हजारों जातियों–उपजातियों में विभाजित है। जातिगत भेदभाव संबंधी मनोवृति समाज में इतनी गहरी है कि आज भी कुछ जातियाँ अपने को श्रेष्ठ और अन्य को निम्नतर और अपवित्र मानते हुए दूरी बनाए रखने की गैरकानूनी एवं गैरमानवीय आचरण करती नजर आती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में संवैधानिक नियमों के बाद भी जातिगत असमानता और जातिगत भेदभाव से उत्पन्न समस्याएँ जस की तस मौजूद है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध समाजशास्त्री डा. श्यामाचरण दूबे ने अपनी किताब 'भारतीय समाज' में लिखा है कि ''भारत में एक तरफ लोकतंत्र, सामाजिक समानता और धर्मनिरपेक्षता के विचारों को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जा रहा तो दूसरी ओर अपने–अपने स्वार्थों के कारण विभिन्न समूह आज भी जाति विभेदों की बीमारी से चिपके हुए हैं।''

स्पष्ट है कि जातिगत भेदभाव हमारे समाज की सच्चाई है और यह भी सच है कि इस जाति–व्यवस्था के कारण सर्वाधिक प्रभावित वर्ग है– दलित समाज। जातिगत भेदभाव के दंश का शिकार सर्वाधिक मात्रा में जाति–व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर पड़ी दलित जातियाँ है जिन्हें वर्णाश्रम के तहत कभी शूद्र कहा गया तो वर्तमान में 'हरिजन', 'अनुसूचित जाति' आदि कहकर अलग किया गया। दलित विमर्श के बाद यह विश्लेषण बेमानी है कि दलित कौन है? किसे दलित कहा जाय? या दलित समाज की समस्याएँ क्या हैं? आदि। यहाँ इस अध्ययन का विषय 'जाति के सवालों' के परिप्रेक्ष्य में समकालीन दलित कहानी पर पड़े प्रभावों की है।

साम्राज्यवाद के विरोध के सवाल पर दलित चिंतकों और मार्क्सवादी दृष्टिकोण में प्रारम्भ से ही तकरार रहा है। मार्क्सवाद ने व्यापकता के साथ दलित समस्या को 'जाति' से उत्पन्न समस्या न मानते हुए उसे 'वर्ग' से जोड़कर देखने की पद्धति अपनाई है जबकि दलित चिंतकों ने इस समस्या के लिए एकमात्र कारण के रूप में वर्णाश्रम प्रदत्त जाति–गत सामाजिक संरचना को उत्तरदायी माना है। इस वैचारिक मतभेद का कारण यह रहा है कि मार्क्सवादी चिंतकों और आलोचकों ने यूरोपीय सामंतवाद को आधार बनाकर हर शोषण चक्र को वर्ग–संघर्ष से जोड़कर देखा जबकि भारतीय सामंतवाद के जड़ में यहाँ की जातीय–संरचना रही है । भारतीय सामंतवादी शोषण का कारक वर्ग आधारित न होकर जाति आधारित है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित समस्या के संदर्भ में भारतीय और यूरोपीय सामंतवाद के बुनियादी फर्क को रेखांकित करते हुए स्पष्ट किया कि यूरोप के शोषितों और भारत के दलितों के शोषण चक्र की तुलना बेमानी है उन्होंने माना कि यह सही है कि यूरोप में भी मजबूत लोग कमजोर लोंगों का शोषण करने में पीछे नहीं रहते थे लेकिन जिस तरह का निर्लज्जतापूर्वक शोषण यहाँ की उच्च जातियों ने दलितों का किया उसकी कोई मिसाल कहीं नहीं है।

'वर्ग का सवाल' है, रहेगा, परन्तु इस कारण 'जाति का सवाल' गौण नहीं किया जा सकता। अगर 'जाति' एक समाज–सच है तो वह साहित्य के सच से अलग कैसे हो सकता है! काव्य की दुनिया में जाति का सवाल मौन रहा है परन्तु आधुनिक युग की विधाओं खासकर 'कहानी' और 'उपन्यास में जाति का सवाल बराबर बना रहा है। विभिन्न विमर्शों (स्त्री, दलित, आदिवासी, पिछड़ा आदि) के बाद समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में 'जाति का सवाल' साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के केन्द्र में आ गया है। हिन्दी कथा साहित्य में जाति का सवाल उसके प्रारंभिक काल से ही मौजूद रहा है। इस संदर्भ में डॉ. अमिष वर्मा की टिप्पणी बेहद सटीक जान पड़ती है– ''हिन्दी की शुरूआती कहानियों और उपन्यासों को भी देखें तो वहाँ पात्रों की जातिगत पहचान बहुत साफ–साफ मौजूद हैं। पूरे हिंदी कथा साहित्य में जाति का मुद्दा मोटे तौर पर दो तरीके से उपस्थित है। एक तो सामान्य ढंग से पात्र की जाति का उल्लेख और दूसरे, जाति को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखना।" 'जाति' के सवाल को सबसे प्रभावी ढंग से हिन्दी कहानीयाँ उपन्यास की दुनिया में कथा सम्राट प्रेमचंद लेकर आते हैं। इससे पहले के कथा–साहित्य में 'जाति' का जिक्र तो था परन्तु जातिगत भेदभाव, उत्पीड़न और जातिवाद की एक सामाजिक समस्या के रूप में पहचान नदारद थी। हिन्दी नवजागरण और गाँधी आंदोलन ने साहित्य और समाज दोनों स्तर पर जाति के सवाल को और मजबूती दी। गाँधी–आंबेडकर विमर्श एवं राजनैतिक आजादी के साथ–साथ सामाजिक समानता के सम्मिलित स्वर ने जाति के सवाल को निर्णायक मोड़ दिया।

प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों ने भी अपनी सामाजिक सोद्देश्यता को ध्यान में रखते हुए 'जाति' के सवाल को अपनी कहानियों में प्रमुखता से स्थान दिया। इन कहानीकारों में 'फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, यशपाल, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, डॉ. राही मासूम रजा, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी आदि प्रमुख हैं। सत्तर वर्षों की कहानी की सतत्विकास यात्रा में नई कहानी आंदोलन और अन्य वार्षिक, छमाही, तिमाही कथा–आंदोलनों ने निश्चित रूप से जाति के सवाल को गौणकर दिया परन्तु कहानी की अंतर्यात्रा में यह भीतरी नदी की तरह सदैव प्रवाहित होती रही। इस संदर्भ में कथा–आलोचक अमिष वर्मा की टिप्पणी उल्लेखनीय है– ''जाति का सवाल भारतीय समाज का एक जीवंत और अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल रहा है। स्वातंर्त्योत्तर हिन्दी कहानी भी इस सवाल से बराबर बाबस्तार ही है। बीच–बीच में ऐसे दौर भी आए जब जाति का सवाल गौण हो गया। विशेषकर नई कहानी के दौर में शहरी जीवन, अस्तित्ववाद, मध्यवर्गीय कुंठाओं, व्यक्तिवाद आदि के दबाव में जाति के प्रश्न की ओर कहानीकारों का ध्यान कम गया। फिर भी उस दौर की ग्रामांचल की कहानियों में जाति के मुद्दे को बहुत संजीदगी के साथ उठाया गया। रेणु और मार्कण्डेय इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।"

आठवें दशक में दलित विमर्श का जन्म होता है। इस विमर्श ने साहित्य में दलित लेखन को प्रोत्साहित किया। आत्मकथाओं से आरंभ होकर यह आज कविता, कहानी, निबंधों आदि विधाओं में विस्तार पा रहा है। दलित साहित्य ने आंबेडकर के विचारों के आलोक में जाति के सवाल को नये ढंग से उठाया। जातिगत शोषण और दमन की ऐसी कहानियाँ सामने आईं जिस ने 'जाति के सवाल' को केन्द्रीय विषय के रूप में स्थापित कर दिया। यह हिन्दी साहित्य में एक नया उन्मेष था, एक नई धारा का प्रवेश था। 'कहानी' विधा ने यहाँ भी कविता व अन्य साहित्यिक विधाओं से बाजी मारी और दलित कहानी आंदोलन के साथ जाति का सवाल गहराता गया।

समकालीन दलित कहानी : विकास एवं स्वरूप – दलित कहानी लेखन की शुरूआत निश्चित ही कथा सम्राट प्रेमचंद से होती है और फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय आदि के साथ यह परंपरा स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलित कथाकारों द्वारा विस्तारित और विकसित होती है। 'स्वानुभूति' और सहानुभूति के बहस को छोड़ भी दें तो दलित कहानी वस्तुतः परिमाण और प्रभावोत्पादकता के लिहाज से दलितों द्वारा लिखी गई कहानियाँ ही मानी जाएगी। दलित कथा–आलोचकों के अनुसार प्रेमचंद, रेणु, मार्कण्डेय आदि रचनाकारों ने दलित समस्या को सहानुभूतिपूर्वक देखा और जाति के सवाल पर 'ग्लानि–भाव' को अभिव्यक्ति दी परन्तु समानता, अधिकार चेतना, आक्रोश और स्वानुभूति भाव–चेतना को दलित–लेखकों ने ही रचा है, इसलिए दलितों द्वारा लिखी गई कहानियाँ ही वास्तविक दलित–विमर्श की परिणति है। इस आधार पर 'बहुजन संगठक' पत्रिका के जून 1981 में प्रकाशित मोहन दास नैमिश राय की कहानी 'कर्ज' को पहली दलित कहानी स्वीकृत किया जाता है। कहानी का पात्र 'अशोक' निम्न जाति का है और माता–पिता द्वारा लिए गए कर्ज चुकाता हुआ संघर्षशील है। भले ही वह महाजन का आर्थिक कर्ज नहीं चुका पाता परन्तु अपनी माँ–बहन सहित दलित समाज की सैकड़ों बहू–बेटियों के कर्ज को अपने प्रतिकार–भावना से उतार देता है। दलित जीवन की नारकीय यातना, प्रतिकार–भावना और आक्रोशबद्ध संघर्ष–चेतना कहानी की केन्द्रीय संवेदना है। इसके बाद जयप्रकाश कर्दम की कहानी 1987 में 'जंगल की रानी' प्रकाशित होती है जिसमें आदिवासी युवती की संघर्ष–गाथा चित्रित की गई है। इसी दशक में डॉ. महीप सिंह द्वारा संपादित 'सारिका' के 1982 में दलित कहानी विशेषांक प्रकाशित होता है और साहित्यिक हलके में अलग हलचल मच जाती है।

दलित कहानी का मूल उद्देश्य है अन्याय का कड़ा प्रतिकार करना। वह जातिगत हीनता भाव को त्याग सीधे ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती देता है और व्यवस्थाजनित भेदभाव को समाप्त कर मानवीय संवेदनाओं के बल पर सामाजिक समता की आकांक्षा रखता है। इस संदर्भ में डा. श्यौराज सिंह बेचैन ने लिखा है– ''वर्ण–व्यवस्था को धिक्कारना ही दलित कहानीकार का मूल उद्देश्य है। धर्मग्रंथों

में लिखित परंपरावाद, अस्पृश्यता, जातीयता, वर्ण व्यवस्था आदि नीच पद्धति का विरोध करके सामाजिक सुधार करने का कार्य दलित कहानियो में किया गया है। दलित साहित्य मनुष्य की समानता का पक्षधर है। समता, बंधुता और शोषण–विहीन समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है।" समानता की भावना से अधिकार–चेतना का जन्म होता है और इस अधिकार की प्राप्ति हेतु दलित कहानी 'आक्रोश' और 'आक्रामकता' को अपना अस्त्र बनाती है। प्रेमचंद की दलित चेतनावाली कहानियों में क्षोभ है, पश्चाताप भी है और ग्लानि भी परन्तु गुस्सा या आवेश नहीं है, परन्तु दलित कहानीकारों के यहाँ व्यवस्था और अन्याय के प्रति तीव्र और त्वरित आक्रोश है। दलित कहानियों के पात्र सीधे आक्रोश का प्रदर्शन करते हैं, बिना परवाह किये कि इसका अंजाम क्या होगा। सुशीला टाकभौरे की कहानी 'दमदार' की पात्र सुमन का यह प्रतिकार द्रष्टव्य है– ''सुमन ने उसके बाल खींचे, फिर अपनी चप्पल से उसके मुँह और सिर पर तड़ातड़ मारने लगी – 'साला हरामी, कुत्ता हमको नीच कहता है? अभी तक आदमी ही सरेआम औरतों को नंगाकर के मारते आए हैं। क्या औरत आदमी को नंगाकर के नहीं मार सकती?''

समकालीन दलित कहानी की अगली महत्वपूर्ण विशेषता है सांस्कृतिक सम्मिलन या सांस्कृतिक समता की स्थापना की पहल करना। संस्कृति, समाज का अभिन्न अंग है और बड़े पैमाने पर दलित–शोषण गाथा का जुड़ाव हमारे सांस्कृतिक रूढ़ियों और मान्यताओं से निःसृत हैं। इन कहानीकारों की कहानियों के सांस्कृतिक सरोकारों पर विचार करते हुए यह ध्यान में जरूर रखना चाहिए कि सांस्कृतिक दृष्टि से दलितों और गैर–दलितों में केवल अर्थ संपन्नता का ही अन्तर नहीं है बल्कि मानसिक संपन्नता या ज्ञान की विरासत का फर्क भी साफ है। डा. अम्बेडकर के वैज्ञानिक सोच और तर्क पद्धति से अनभिज्ञ दलित समाज पर तंत्र–मंत्र, धार्मिक मान्यताओं, रूढ़ विश्वासों, और अंधविश्वासों का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। खाली पेट और फटे कपड़े के बावजूद हिन्दू धर्म के कर्मकांडों, व्रत–उपवासों, मृत–भोज, दान–पुण्य, चढ़ावा–स्नान आदि क्रियाकलापों में उनकी अटूट भागीदारी कायम है। दलित कहानीकारों ने अपने समाज में संस्कृति गत सम्मिलन के इस प्रभाव को तोड़ने और लोगों को इन आडंबरों–अंधविश्वासों से मुक्त करने की आक्रामक प्रतिक्रिया नजर आती है। 'गंगा' कहानी में अम्मा से प्रतिकार करती लेखिका लिखती हैं– ''हरिद्वार पहुँचकर वहाँ के सभी मंदिरों के दर्शन कर चुकने के बाद मेरी सासू माँ ने जब गंगा स्नान की बात कही तो मैं हैरत और घृणा से भर गई। क्योंकि गंगा कहे जानेवाले जिस जल के घाट पर मैं खड़ी थी उसके अन्दर और बाहर इतनी गंदगी थी कि वहाँ खड़े–खड़े मुझे उबकाई सी आ रही थी। हजारों लाखों की संख्या में लोग उसमें नहाते हैं, अस्थियाँ बहाते हैं, कपड़े धोते हैं, और शायद मलमूत्र–छी–दी इतने गंदे पानी में मैं स्नान नहीं करूँगी। मैंने कड़े शब्दों में इंकार किया।"

समकालीन दलित कहानी की अन्यतम विशेषता है– भाषा–शैली का बहिष्कार या अपरिष्कृत भाषा–शैली। इन कहानीकारों के यहाँ कहानी कला 'गौण' है और 'कथ्य' ही एकमात्र महत्वपूर्ण तत्व है। इनका मानना है कि दलित जीवन यथार्थ और वस्तु–स्थिति का चित्रण सुन्दर, तत्सम प्रधान शब्दों को अलंकृत कर नहीं किया जा सकता बल्कि जैसा, जो कुछ भी है, उसी रूप में व्यक्त किये जाने पर ही उसके मर्म को व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए बड़े पैमाने पर गाली–गलौज की भाषा यहाँ मौजूद है। उनका यह भी मानना है कि बरसों–सदियों तक जिस भाषा में उन्हें तिरस्कार, अपमान सहना पड़ा है, उन्हें उसी भाषा में लौटाना ही श्रेयस्कर है। अगर कहीं प्रतिकार करता हुआ पात्र है तो वह कतई ठंडे मन से नहीं बल्कि पूरे आवेश के साथ बिना भाषा की परवाह किये करते हैं। भाषा–संबंधी उनकी दृष्टि को समझने हेतु जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'सांग' का यह संवाद उल्लेखनीय है जहाँ मुखिया (सवर्ण) और चम्पा (दलित महिला) के बीच सांग देखने को लेकर हो रही बहस हिंसा में बदल जाती है–

'कहाँ गई वह रांड, बाहर निकल चुड़ैल।'मुखिया ने जवाब कियाः 'बोल हरामजादी, कल खेत में न लाई करने क्यों नहीं गयी थी?' क्रोध से पूछा।

'मेरी तबियत ठीक नहीं थी।' बोली चम्पा।

'तबियत ठीक नहीं थी, झूठ बोलती है कुतिया। फिर सांग देखने कैसे चली गयी थी तू? ऐं बोल....' और कहने के बाद चम्पा की ओर हाथ बढ़ाया मुखिया ने। लेकिन इस से पहले कि मुखिया का हाथ चम्पा तक पहुँचता, ओढ़ने में से गण्डासा पकड़े चम्पा के हाथ बाहर निकले और अगले ही क्षण मुखिया का सिर दो फाँक हो गया।"

स्पष्ट है कि भोगे हुए स्वानुभूत सत्य का खरापन और खटास दोनों एक साथ दलित कहानी के शिल्प और भाषा में मौजूद है। वास्तव में समकालीन दलित कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली यानी 'मैं शैली' में लिखी गई कहानियाँ हैं जहाँ पात्र के रूप में लेखक या लेखिका स्वयं उपस्थित नजर आते हैं। भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता भी इस आत्मकथात्मक शैली में मुखर होकर प्रकट होती है जो इन कहानियों की प्रभाव–क्षमता में वृद्धि करता है।

मुख्य धारा की हिन्दी कहानी को समकालीन दलित कहानी का प्रदेय :–

समकालीन दलित कहानी आंदोलन ने मुख्य धारा के हिन्दी साहित्य के तमाम विधाओं यथा कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि पर व्यापक प्रभाव छोड़े हैं। इसका सर्वाधिक असर हिन्दी कहानी के वर्तमान स्वरूप पर पड़ा। इस दलित कहानी ने पहली बार हिन्दी की मुख्यधारा को पीड़ा और यातना के उन इलाकों में यात्रा कराई, जिसके बारे में अबतक लिखा नहीं गया था। हिंसा के प्रत्यक्ष, स्थूल और अवमानना जैसी अवस्थाओं का चित्रण पहली बार हिन्दी कथा साहित्य का हिस्सा बना।

प्रायः सभी समकालीन दलित कहानीकारों ने अपने भोगे हुए यथार्थ की व्यौरेवार विवरण को चित्रित किया जहाँ 'प्रत्यक्ष हिंसा' के तमाम रूप जैसे हत्या, बलात्कार, पिटाई आदि का जिक्र है। इन हिंसा के प्रत्यक्ष प्रतिस्थ्यों का हु–ब–हू अंकन कर दलित कहानीकारों ने मुख्यधारा के हिन्दी साहित्य को यथार्थ की नई रौशनी से अवगत कराया है। उदाहरण के लिए सुशीला टाकभौरे की कहानी 'बदला' का यह अवतरण देखने योग्य है – "भंगी की औलाद, अछूत, शूद्र, भिकमंगे, हमारी दया पर जीने वाले, हमारे टुकड़ों पर पलनेवाले, आज कल इनको बहुत घमंड हो गया है... इनके हौसले बहुत बढ़ गए हैं, इनको ठीक करना ही पड़ेगा, एक–एक को मार डालेंगे, इनके घरों में आग लगा देंगे।"

'स्थूल हिंसा' के प्रतिरूप यानी भाषाई मान–मर्दन, गाली–गलौज, व्यवहार, छुआछूत, अस्पृश्यता, मंदिर गमन की पाबंदी, गाँव में अलग टोले, अलग कुँए आदि के अनेकानेक चित्र इन कहानियों में दर्ज हैं वहीं हिंसा के नए रूप 'अवमानना' के विभिन्न रूपों जो ईशारों, संकेतों, मंशाओं, भावाओं से व्यक्त होता है का भी व्यापक प्रयोग पहली बार हिन्दी कहानी में स्थान पाता है।

दलित कहानीकारों ने आत्मकथात्मक शैली में अपने समाज के सच को व्यक्त करने की पहल की। इसके कारण दलित समाज द्वारा किये जानेवाले आर्थिक व सामाजिक क्रिया–कलापों का व्यापक ब्यौरा हिन्दी कहानी पहली बार सामने आया। चमड़े की उतराई से लेकर चमड़े से जूते सिलने तक का ब्यौरा, मैला ढोने का ब्यौरा, माँस के पकाने और सुखाने का ब्यौरा, सुअर, चूहे आदि के शिकार आदि का ब्यौरा इससे पूर्व हिन्दी कहानियों में वर्जित थे। नई जीवनस्थितियों और इन जीवन–स्थितियों का जीवंत वर्णन हिन्दी कथा साहित्य के लिए नितांत नई बात है।

समकालीन दलित कहानीकारों ने जहाँ कथ्य के स्तर पर नये अनुभव लोक की यात्रा कराई है वहीं हिन्दी कहानी को लोकभाषा या जनभाषा के भदे सपन से सीधा जुड़ाव दिलाया। गालियाँ, अपमानजनक शब्द, ठेठ देशज मुहावरे, आदि का जिस प्रकार यथार्थ को प्रस्तुत करने में किया गया वह बिल्कुल नई बात है। दलित कहानियाँ सत्ता और व्यवस्था से सीधा मुठभेढ़ करती कहानियाँ हैं। प्रेमचंद युगीन कहानी से लेकर समकालीन मुख्यधारा की कहानियों में सत्ता और व्यवस्था के प्रति विरोध की भावना निश्चित रूप से व्यक्त है परन्तु पहली बार प्रतिशोध, प्रतिकार और आक्रोश का मुख्य स्वर हिन्दी में दलित कथाकारों के साथ प्रवेश पाता है जहाँ सत्ता, व्यवस्था अथवा अत्याचार के किसी भी प्रकार के मठ पर सीधा हमला बेहद आक्रामक अंदाज में व्यक्त है। पहली बार हिन्दी कहानी में प्रतिरोध का यह तेवर महसूस किया गया।

प्रेमचंद, मार्कण्डेय, रेणु आदि की सहानुभूतिपूर्ण दलित कहानियों से अलग समकालीन हिन्दी दलित कहानी ने सन् 1981 से 2019 की यात्रा पूरी की है जिसमें भारतीय सामाजिक विकास और सामाजिक परिवर्तन का अनूठा लेकिन

संघर्षपूर्ण दस्तावेज संग्रहित है। दलित कहानी ने अपने समाज पर होनेवाले अत्याचारों और समाज की बिडंबनाओं, विद्रूपताओं व विसंगतियों से लोहा लेते हुए समतावादी मूल्यों की स्थापना का एक सुंदर स्वप्न देखा है। भले ही भाषा और कथ्य स्तर पर आक्रामकता और प्रतिशोध की ध्वनि तीव्रतर है, परन्तु यह उनके दमित चेतना से उच्छेदन (एनिलेशन) का सार्थक प्रयास है।

मोहनदास नैमिश राय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, रमणिका गुप्ता, डा. धर्मवीर, श्यौराज सिंह 'बेचैन', दयानंद बटोही, रत्नकुमार सांभरिया, सूरजपाल चौहान, सुशीला टाकभौरे, कुसुम मेधवाल, हेमलता महेश्वर, अजय नावरिया, रजत रानी मीनू, रजनी सिसोदिया, कैलाश वानखेड़े अनीता भारती, कावेरी, टेकचंद आदि दलित कहानीकारों ने अपनी लेखनी से न केवल दलित साहित्य लेखन को बल्कि हिन्दी की समकालीन दुनिया को भी प्रतिरोध, संघर्ष और समतामूलक समाज बनाने का स्वप्न दिखाया है। हिन्दी आलोचना ने इन कहानियों को अब धीरे–धीरे 'नोटिस' किया है। जिससे इन कहानियों के वास्तविक रूप और इन कहानियों पर एकांगी या एक पक्षीय होने के आरोपों को सिरे से खारिज किया जा रहा है।

समकालीन दलित कहानियाँ और जाति के प्रश्न : स्वतंत्रतापूर्व दलित जीवन से जुड़ी कहानियों में जाति के सवाल की उपस्थिति सहानुभूति और सद्भावना की चेतना से संबद्ध है। 'ठाकुर का कुँआ', 'सद्गति' 'कफन' आदि प्रेमचंद की कहानियों में पात्रों के नाम जाति सूचक हैं, साथ–ही–साथ प्रेमचंद ने उनके दलित जीवन की यातनाओं को भी मार्मिकता के साथ प्रकट किया है। इस चित्रण से दूसरे समाज के मन में ग्लानिभाव पैदा करने की चेष्टा और मर्मानुभूति तो है, क्षोभ भी परन्तु शोषक के प्रति किसी प्रकार का गुस्सा, आक्रोश या प्रतिरोध नहीं है। फणीश्वरनाथ रेणु और मार्कण्डेय एवं बाद के हिन्दी कहानीकारों ने भी जाति के सवाल को जगह दी है परन्तु वहाँ भी गैला निभाव ग्रस्त सहानुभूति का स्वर मुखर है प्रतिरोध और विद्रोह की भावना नगण्य है। परन्तु समकालीन हिन्दी दलित कहानी में 'जाति का सवाल' नए रूप में नयी आक्रामकता, स्वानुभूति सत्य से संचालित आक्रोश और प्रतिरोध की भावना से संचालित है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी दलित कहानी का रोंने प्रारंभ में बेहद संजीदगी और सहलाते हुए जाति के सवाल को रखा परन्तु 1990 के बाद के सामाजिक–राजनैतिक बदलाव के साथ उनमें आक्रामक ता और आवेश का स्वर मुखर हो उठा है। बहुजन राजनीति, मंडल बनाम कमंडल की राजनीति, वैश्वीकरण आदि वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बीच समकालीन दलित कहानियों की रचना हुई। इस कारण इन कहानियों में जाति का सवाल प्रमुखता के साथ बिना लाग–लपेट, बिना छुपाव या दुराव के साथ प्रकट होता नजर आता है।

दलित कहानी के सर्वाधिक चर्चित और ख्याति प्राप्त कहानीकार हैं– ओम प्रकाश वाल्मीकि। इनकी कहानियों में भी जाति का सवाल अपने पूरे यथार्थ के साथ अंकित है। 'सलाम' (2000 ई.) तथा घुसपैठिये (2003 ई.) नामक संग्रह की

अधिकांश कहानियों में इन्होंने जातिगत भेदभाव, जातिगत उत्पीड़न और अत्याचार के अनेकानेक प्रसंग अंकित किया है जहाँ जाति का सवाल केन्द्रीय बनकर उभरता है। 'सलाम' उनकी प्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी में ब्राह्मणों द्वारा स्थापित 'सलाम प्रथा' का तीखाप्रतिरोध दर्ज है। केवल जाति विशेष में जन्म लेना किस रूप में अत्याचार और शोषण का कारण हो सकता है, इस कहानी के कथ्य और संवाद से स्पष्ट होता है। हरीश का मित्र कमल देहरादून से बारात में शामिल होने मुजफ्फरनगर आता है और जब वह अगले दिन चाय की दुकान पर आता है तो उसके साथ जो घटित होता है, उसका ब्यौरा देते हुए कहानीकार लिखते हैं–"अगले दिन सुबह कमल को चाय पीने की तलब लगी और वह ढूँढते हुए गाँव की एक चाय की दुकान पर पहुँचता है। दुकान वाला यह जानकर कि यह देहरादून से जुम्मन चूहड़े के यहाँ बारात में आया है, तो चूहड़ा (भंगी) ही होगा। कमल को चाय देने से मनाकर देता है। चायवाला कहता है– ''चूहड़े चमारों को मेरी दुकान पर चाय न मिलती... कहीं और जाके पियो।'' तो कमल उससे जाति पूछ लेता है। इस पर चायवाला कहता है– 'मेरी जात से तुझे क्या लेणा–देणा। इस चूहडे चमार भी जात पूछने लगे... कलजुग आ गया है कलजुग।..... 'हाँ कलजुग आ गया है, सिर्फ तुम्हारे लिए, तुम अपनी जात नहीं बताना चाहते हो तो सुनो, मेरा नाम कमल उपाध्याय है। उपाध्याय यानी ब्राह्मण हैं' कमल ने आँखे तरेरकर कहा। चूहड़ों की बारात में बाभन? चायवाला कर्कशता के साथ हंसा।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि के तीसरे कहानी संग्रह की ''छतरी' में संकलित कहानी 'चिड़ीमार' दलित स्त्रियों के प्रति जातिगत पूर्वाग्रह और छेड़छाड़ व यौन हिंसा को उद्घाटित करती है। कहानी की पात्र सुनीता नगरपालिका में कार्यरत है जहाँ उसे बराबर जातिसूचक शब्दों से पुकारा और प्रताड़ित किया जाता है। धीरे–धीरे वह मजबूत होती है और जाति की अपनी पहचान स्वीकार करते हुए न डरने वाली प्रतिकार करती है। वह कहती है– ''मैं उनसे नहीं डरती... एक बार मोड़ को थप्पड़ जड़ चुकी हूँ। तबसे हर रोज वह मुझे भंगिन कहकर चिढ़ाता है। कभी जमादारनी, तो कभी मेहतरानी, कभी चूहड़ी... में अनसुना करके निकल आती हूँ। सुनीति की आवाज जैसे अंधे कुँए से आ रही थी।"

मोहनदास नैमिशराय दलित कथा लेखन के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं जिनकी कहानियाँ पत्र–पत्रिकाओं के अलावा 'आवाजें' संग्रह में संकलित हैं। दलित जीवन की समस्याएँ और दलित जीवन की जातिगत विडंबनाओं को इनकी कहानियों में मार्मिक स्वर मिला है। 'अपना गाँव', 'हारे हुए लोग', 'महाशूद्र' 'दर्द' आदि कहानियाँ जाति के सवाल को नए सिरे से उभार देती है। 'वसुधा' पत्रिका के 2003 जुलाई–सितम्बर अंक में प्रकाशित कहानी 'दर्द' इस लिहाज से उल्लेखनीय है जिसमें दलित युवक हर भजन की गाथा दर्ज है। एक उच्च शिक्षा प्राप्त युवक के साथ जातिगत विद्वेष को उभारती यह कहानी हमारे समाज में दलितों के प्रति घृणित और जड़ मानसिकता को उद्घाटित करती है। ऑफिस का बौस उससे कहता है– ''चपरासी के बेटे होकर चपरासी नहीं बनोगे तो क्या लाट साहब बनोगे।"

जयप्रकाश कर्दम की अधिकांश कहानियाँ जातीय बोध की कहानियाँ हैं और गहरे स्तर पर दलित राजनीतिक आंदोलन से प्रभावित हैं। 'तलाश', 'मुवमेन्ट' आदि कहानियों में उनकी जातिगत रणनीतिक समझ को परखा जा सकता है। कर्दम अपनी कहानियों में सम–सामयिक दलित राजनीतिक मुहावरे का प्रयोग जाति के सवाल के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी एक चर्चित कहानी है– 'नोबार'। इस कहानी में मंडल आयोग की सिफारिशें लागू होने और बहुजनों (दलित–पिछड़े) के राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के बाद की परिस्थितियों में ऊँची जाति के फ्रस्टेशन (हताशा सहक्षोभ) को बड़ी संजीदगी के साथ उभारा गया

दयानंद बटोही अपने कहानी संग्रह 'सुरंग' (2009) में दलित समाज के अंधकारपूर्ण सुरंग में बंद वर्तमान और भविष्य को रेखांकित करते हैं। 'सुरंग' कहानी जाति के सवाल को सामासिक और शैक्षणिक क्षेत्र में व्याप्त जातिगत संकीर्णताओं के साथ उजागर करती है। कहानी का नायक ध्नैरेटर पीएच.डी. में एडमिशन लेना चाहता है परन्तु दलित जाति होने के कारण उसे उसके विभागाध्यक्ष डॉ. विष्णु शर्मा रिसर्च नहीं कराना चाहते। परन्तु यहाँ संवैधानिक शक्ति से परिचय प्राप्त नायक प्रतिकार करता नजर आता है। वह कहता है– ''डॉ. साहब आप भूल जाएँ कि आपलोग अंधेरे के बीच कुतर–कुतरकर हम दलितों को खाते डकारते रहे हैं। अब पचेगा ही नहीं आपको।... मुझे आप रिसर्च नहीं करने देंगे, कोई बात नहीं। लेकिन कोटा आपको पूरा करना है।"

रत्नकुमार सांभरिया की कहानियाँ दलित समाज के बदलते यथार्थ और दलितों की बदलती सामाजिक हैसियत को अपना कथ्य बनाती है। उनकी कहानियों में भारतीय समाज के जातिवादी चरित्र के तमाम तिकडम–चालों को समझा–देखा जा सकता है। 'फुलवा', 'डंक', 'मुक्ति', 'खेत', बाढ़में 'वोट', 'बदन–बदना' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण हैं। 'डंक' कहानी जातिवादी समायोजन और मंडल–आयोग व वैश्वीकरण के बाद ऊँची जातियों में दलितों–पिछड़ों के प्रति आए क्षोभ (फ्रस्टेशन) को रेखांकित करती है। सांभरिया रेखांकित करते हैं– ''हाथ में दाम हो। जात दब जाती है।"

उपसंहार : इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलित विमर्श के बाद अम्बेडकर की इस धारणा की पुष्टि हुई कि दलित समस्या का स्वरूप वर्गगत न होकर जातिगत है और जातिगत भेदभाव ही इस शोषण का प्रमुख आध ाार है। समकालीन दलित कहानीकारों ने इसी सिद्धांत को अपनाते हुए अपनी कहानियों में जाति आधारित शोषण व्यवस्था को चित्रित किया है । उन्होंने स्पष्ट किया कि दलितों के शोषण का आधार आर्थिक, शैक्षणिक या राजनीतिक अवस्थिति न होकर जाति विशेष में जन्म से संबद्ध है इसलिए उससे मुक्ति व उन्मूलन भी जातीय–प्रतिरोध और जाति–चेतना से ही सम्भव है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में जातिगत उत्पीड़न और अत्याचार की अनेकानेक परतें अंकित है, इस शोषण के विरोध में गहरा जातीय– प्रतिरोध और गहन जातीय–आक्रोश

व्यंजित है। इन कहानियों ने मार्क्सवादी साहित्यिक धारा के वर्गीय–बोध को त्याग कर जातीय–बोध को साहित्यिक विमर्श के केंद्र में ला खड़ा करने की सफल कोशिश की है जिसका सम्यक प्रभाव मुख्य धारा के साहित्य और आलोचना पर साफ परिलक्षित है। कहा जा सकता है कि हिन्दी कथा साहित्य के समकालीन संदर्भ में दलित कहानी ने जाति के सवाल को एकदम से महत्वपूर्ण बना दिया। दलित कहानीकारों ने बाबा साहेब आम्बेडकर, फूले आदि के विचारों, आदर्शों और प्रेरणाओं के आलोक में जाति के सवाल को सर्वथा नये ढंग से उठाया। दलित विमर्श के साथ उभरे दलित हिन्दी कहानी आन्दोलन ने जाति के सवाल को परिधि से उठाकर केन्द्र में स्थापित कर दिया ऐसा कहना शायद अनुचित न होगा !

संदर्भसूची

1. डॉ. श्यामाचरण दुबे : 'भारतीय समाज', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृ. 112
2. डॉ. अमिष वर्मा : 'साहित्य का समाजशास्त्र, जाति का सवाल और स्वातंर्त्योत्तर हिन्दी कहानी', बनासजन पत्रिका, अंक–34, वर्ष–11, जुलाई–दिसंबर 2019, पृ. 198
3. वही, पृ. 199
4. फणीश्वरनाथ रेणु, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ. 182
5. वही, पृ. 182
6. वही, पृ. 115
7. सुशीला टाकभौरे : हाशिए का विमर्श, नेहा प्रकाशन, नईदिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 23
8. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' : दलित दखल, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2011, पृ. 42
9. सं.–रमणिका गुप्ता : 'दमदार', सुशीला टाकभौरे', भारतीय दलित साहित्य कथाकोश, यश पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 101
10. सं.– डॉ.एन. सिंह, दलित साहित्य : चिंतन के विविध आयाम, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, द्वितीय संस्करण–2009, पृ. 256
11. सुशीला टाकभौरे : संघर्ष, ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2012, पृ. 36
12. वही, पृ. 81–82
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. 65
14. सुशीला टाकभौरे : जरा समझो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 49

15. सं.–रमणिका गुप्ता : भारतीय दलित साहित्य कथाकोश, यश पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 192–93
16. जयप्रकाश कर्दम : सांग, संकलन, भारतीय दलित कथाकोश, पृ. 61
17. सुशीला टाकभौरे : संघर्ष, वही, पृ. 59
18. रजनीतिक, सं.– ज्ञानेन्द्र रावत, दलित नारी एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 125
19. ओमप्रकाश वाल्मीकि : 'पच्चीस चौके डेढ सौ', सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000, पृ. 138
20. वही, पृ. 17
21. अमिष वर्मा : बनासजन, अंक–34, वर्ष 11, सं.–डॉ. पल्लव, पृ. 208
22. ओमप्रकाश वाल्मीकि : सलाम, वही, पृ. 12–13
23. ओमप्रकाश वाल्मीकि : घुसपैठिये, वही, पृ. 16
24. ओमप्रकाश वाल्मीकि : चिड़ीमार, हंस पत्रिका, अगस्त 2004, संपा.–राजेन्द्र यादव, पृ. 111
25. मोहनदास नैमिश राय : दर्द, वसुधा, जुलाई–सितम्बर, अंक 2003, संपा.–कमला प्रसाद, पृ. 213
26. सुभाषचंद्र कुशवाहा, संपा.–जातिदेश की कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 69
27. सुरेश कुमार : फारवर्ड प्रे, ब्लॉग, मई 12, 2021
28. दयानंद बटोही : सुरंग, पृ. 17–18
29. रत्नकुमार सांभरिया, दलित समाज की कहानियाँ, पृ. 140

सहायक ग्रंथ :

1. मोहनदास नैमिश राय, आवाजें, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि : सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रामिसंस्करण 2000
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि : घुसपैठिये, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003
4. जयप्रकाश कर्दम : तलाश, विक्रम प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2005
5. सूरजपाल चौहान : हैरी कब आएगा, अभी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
6. सूरजपाल चौहान : नया ब्राह्मण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
7. सूरजपाल चौहान : धोखा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
8. दयानंद बटोही : सुरंग, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
9. रत्नकुमार सांभरिया : समाज की नाक, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2010
10. रत्नकुमार सांभरिया : खेत तथा अन्य कहानियाँ, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2010

■

दलित चिंतन

जाति का बदलता स्वरूप और रामधारी सिंह दिवाकर की कहानियाँ

सोनल *

भारतीय समाज में जाति के स्वरूप की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि –

मानव सभ्यता के इतिहास पर नजर दौड़ाई जाए तो यह देखा जाता रहा है कि दुनिया भर में प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा कमजोर वर्गों के लोगों का सदियों से उत्पीड़न किया जाता रहा है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इन अमानवीय उत्पीड़न के खिलाफ व्यापक संघर्ष भी हुए हैं। देश और दुनिया में मनुष्यों के बीच असमानता स्थापित करने एवं इसे बनाए रखने की मुहिम में अनेक सामाजिक संस्थाएं सक्रिय रही हैं। समाज में असमानता को स्थापित करने वाली जितनी भी संस्थाएं हैं, वे सभी एक व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रतिफलन हैं।

भारतीय समाज की जो संरचना है, उसमें व्यक्ति के पहचान को वरीयता देने का अधिकार एक ऐसे शब्द से जुड़ा है जिसका आधार भेदभाव एवं उत्पीड़न पर आधारित है। हम चाहते हुए भी इससे पीछा नहीं छुड़ा पा रहें हैं। 'जाति' एक ऐसा सत्य है जो हमारे साथ इस तरह जुड़ा है, जैसे–कोई नवजात शिशु अपनी माँ की नाभि से जुड़ा होता है। माँ की नाभि से तो कुछ ही पल में मुक्ति मिल जाती है किन्तु जाति की जकड़न से नहीं। समय के साथ यह जकड़न और भी पुष्ट होती जाती है। जाति व्यवस्था का इतिहास हजारों साल पुराना है। वर्ण–व्यवस्था पर आधारित इस व्यवस्था का संबंध ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की ऋचा से जोड़ के देखा गया है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद्बाहू राजन्यः कृतः
ऊँ तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।"1

विदित है कि 'मनुस्मृति' में इसका व्यवस्थित विवरण मिलता है, जिसका रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी से तीसरी शती के बीच का बताया जाता है। शुरुआती दौर में वर्ण व्यवस्था में श्रेष्ठता के आधार पर चार वर्णों को स्थापित किया गया है जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। कालांतर में इन चार वर्णों के अलावा एक और वर्ण निर्मित किया गया, जिसे 'अवर्ण' (अछूत या अस्पृश्य) कहा गया। शुरुआती चार वर्णों का आधार चूंकि धर्म से जुड़ा था इसलिए वे सवर्ण कहे

❖ संपर्क : शोधार्थी, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी हैदराबाद (तेलंगाना)
मो0– 9471885868, ई–मेलः sonaluoh@gmail.com

गए किन्तु यह 'पांचवां वर्ण' जो शास्त्रों के विधान में नहीं आते थे और सामाजिक, आर्थिक रूप से अत्यंत पिछड़े थेस इस कारण हिन्दू धर्म ने इन्हें (अछूतों को) अपना हिस्सा नहीं माना। इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "चातुर्वर्ण्य स्थापित हो जाने के बाद दो परिवर्तन और हुए। एक–शूद्रों से नीचे एक और वर्ण बनाया गया जिसे अस्पृश्य या अंत्यज के नाम से पुकारा गया। दो– शूद्र अन्य तीन वर्णों से अलग हो गया। इन परिवर्तनों से कुछ नए शब्दों का जन्म हुआ। जैसे सवर्ण–अवर्ण, द्विज–अद्विज। सवर्ण का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। अवर्ण का अर्थ– अस्पृश्य, अछूत, अंत्यज, अतिशूद्र अर्थात जिसका कोई वर्ण नहीं।"2 चातुर्वर्ण्य में परिवर्तन की इस धारा ने जातियों के बनने में भी निर्णायक भूमिका निभाई। गौरतलब है कि इतिहास के प्रवाह में चार वर्णों से शुरू हुई यह परंपरा आज लगभग चार हजार से भी ज्यादा जातियों में विभक्त हो गई है। यह तमाम जातियाँ इन पाँच वर्णों के ही अंतर्गत आती हैं। जाति की प्रकृति व विशेषताएं कुछ इस प्रकार है–

'वंशानुगत आधार पर पेशा संबंधी विशेषताएँ

'कोटि का क्रमिक वर्गीकरण

'रोटी–बेटी का संबंध

'व्यवहार संबंधी प्रतिबंधों के कारण एक समुदाय का दूसरे से विभेद आदि।

मध्यकाल में जाति :– भारतीय समाज में विदेशी तत्वों का जब आगमन हुआ, तब जाति व्यवस्था की जड़ें हिल गईं। मुस्लिम शासकों के भारत आने के बाद पहली बार एक बिल्कुल भिन्न संस्कृति से यहाँ के लोगों का पाला पड़ा। इस्लाम अपने विचारों में समानतावादी था,जिसके चलते सदियों से संताप झेल रहे 'निम्न' जातियों का इसकी तरफ स्वाभाविक आकर्षण हुआ। भक्तिकालीन निर्गुण परंपरा के कवियों में पहली बार साहित्यिक रूप से जाति व्यवस्था का विरोध दिखाई पड़ता है। "जात पात पूछे नहीं कोई, हरिको भजे सो हरि का होई"3 कबीर जैसे संतो की इस ललकार ने लंबे समय से कुंडली मार कर बैठे ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर करारी चोट की। अंग्रेजों के भारत आने पर भी वंचित समुदाय में कुछ इस तरह का परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

आधुनिक काल में जाति :– आधुनिक समय में सर्वप्रथम जाति व्यवस्था के उत्पीड़नपूर्ण और दमनकारी नीतियों के खिलाफ फुले दम्पत्ति ने जो मुहीम चलायी थी, डॉ0 बी.आर अंबेडकर ने उसे आंदोलन के जरिए दलित चेतना के रूप में प्रवाहित किया। बीसवीं शताब्दी के नब्बे के दशक में जाति विरोधी आंदोलन तेज गति को प्राप्त करता हुआ दिखाई पड़ता है।

रामधारी सिंह दिवाकर की कहानियों में चित्रित जाति–व्यवस्था का वर्तमान परिदृश्य – रचनाकार रामधारी सिंह दिवाकर का कहानी लेखन भी लगभग इसी दौर में शुरू हुआ। दिवाकर जी की कहानियों का विश्लेषण करते

हुए निलय उपाध्याय कहते हैं– "सामंती अवशेषों के बचे–खुचे सबूत बरसात में मिट्टी की दीवार की तरह भहराकर गिर रहे हैं। इस गिरने की दो प्रवृतियाँ हैं। या तो वह नियति मानकर सच को स्वीकार करने का साहस कर रहा है या अपराधियों की जमात में शामिल हो रहा है। दूसरा समुदाय जो अब तक वंचित और उत्पीड़ित था– वह या तो समरस समाज की ओर उन्मुख है या अराजक ढंग से आपराधिक और प्रभाव की भूमिका में नवधनाढ्य या नव–सामंतों में शरीक हो रहा है। गाँव के बने रहने में उसकी संस्कृति के जो मूल आधार थे– वे खिसक रहे हैं। आधुनिकता की मछली की पीठ पर बस गए हैं गाँव। मछली नदी में है– जिस दिन तैरी, ये गाँव डूब जाएगा।"4 इनकी ज्यादातर कहानियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि को आधार बना कर लिखी गयी है। जैसा कि हम जानते हैं कि अंबेडकर ने भारतीय ग्राम को जाति–व्यवस्था के कारखाने कहा था। ऐसी स्थिति में ग्रामीण यथार्थ पर बात करते हुए, बिना जाति जैसे जरूरी प्रश्न पर बात किये बगैर एक संवेदनशील रचनाकार आगे नहीं बढ़ सकता है।

द्विज जातियाँ :– द्विज जातियों के पतन और पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के उत्थान से व्याकुल हो कर रजपुतही के बाबू साहब आत्मआलाप करते हुए कहते हैं "कैसा जमाना आ गया। अपने ही गाँव के गुआर–गोंढ़ी, कुर्मी–खवास मेरी जमीन खरीद रहे हैं। कैसा जमाना आ गया।"5 ये बिकती जमीनें अगर किसी उच्च–वर्ग की जाति द्वारा खरीदी जाती तो शायद यह अफसोस का आलम ऐसा न होता। जिनको अब तक हीन–दीन मानते आए थे वही मालिक बनते जा रहे हैं। यह जो अपमान की अनुभूति है उसका कारण है आज की पीढ़ी। पुरानी पीढ़ी में बदले परिस्थितियों के बावजूद वो साहस नहीं दिखाई पड़ता है कि पंडित जी या बाबू–बाबुआनो से असम्मान के लहजे में बात या व्यवहार कर सकें।

इन स्थितियों से उत्पन्न बौखलाहट को एक अन्य कहानी 'वर्णाश्रम' में इस प्रकार देखा जा सकता है "चलो, अगमलाल–जैसे दो–चार शूद्र अफसर बन भी गये तो कौन–सा पहाड़ ढह जाएगा। राज तो ब्राह्मण का ही है। सभी क्षेत्रों में नीचे से ऊपर तक ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं।"6 लेकिन इसके बावजूद आत्मविश्वास अब पहले जैसा नहीं है, यह बड़ा कारण है जिसकी वजह से 'उच्च–वर्ग' की जातियां अपने आपसी मतभेदों के बावजूद संगठित हो रही हैं। "अच्छा हाँ, रामदहीन मिसिर का बेटा अभिषेक। अच्छे भले आदमी हैं मिसिर जी, लेकिन हैं हम लोगों के विरोधी। आना–जाना नहीं है। वैसे वे भी छोटका जात से परेशान रहते हैं।"7

मध्यवर्ती जातियाँ :– शूद्र जातियों का द्विज एवं दलित जातियों से जिस तरह के आपसी संबंध और अंतर्विरोध हैं उसके साथ ही अन्य विषमताओं पर भी रामधारी सिंह दिवाकर ने अपनी कहानियों के माध्यम से चर्चा की है। बीते समय में पिछड़े समुदाय की बेहतर होती जीवन स्थितियों के उपरांत हुए परिवर्तन को

अपनी कई कहानियों का विषय बनाया है। पिछड़ी जातियों में भी जो अलग–अलग सोपानीकरण है, उसके चलते होने वाले भेदभाव व उत्पीड़न को केंद्र में रख कर भी अपनी कहानियों की कथा बुनते हैं। 'उच्च' जातियों में जातीय अस्मिताबोध ज्यादा प्रबल होती है। इसका अनुकरण करते हुए 'पिछड़ी जातियाँ' भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में आगे बढ़ते दिखाई पड़ते हैं। वैसे भी ब्राह्मणवादी और सामंती मूल्यों को अपना कर समाज में अपनी प्रतिष्ठा को स्थापित करना ज्यादा गौरव का विषय माना जाता रहा है। यह बड़ा कारण है कि इन जाति समुदाय के 'उच्च वर्ग' के लोग 'सवर्ण' संस्कृति से प्रभावित हो कर आचरण करते हैं। वर्गीय दृष्टि से जिन पिछड़ी जातियों को अति–पिछड़ी एवं दलित जातियों का सहायक होना चाहिए था, वह भी अति–पिछड़ी एवं दलित जातियों के लिए ब्राह्मणवाद का चोला ओढ़ लेते हैं। यादव जाति के एक व्यक्ति द्वारा मल्लाह जाति की एक लड़की के साथ बलात्कार की घटना को अंजाम दिया जाता है। बलात्कार की घटना पर गाँव के 'उच्च' जातियों के लोग बहुत ही सामान्य सी प्रतिक्रिया देते हैं। "बलात्कार हो ही गया प्रोफेसर साहब, तो कौन सी चौंकाने वाली बात हो गई। आप क्या नहीं जानते कि खवास टोली हमेशा से बाबू–बाबुआनों और यादव टोले के दबंगों का 'चारागाह' रही है? यह बात बभनटोली के डॉ. सी. एम झा कह रहे थे। जो सरकारी सेवा से रिटायर होकर अपने गाँव के चौक पर अच्छा सा क्लिनिक खोले हुए हैं।"8 पिछड़ी जातियों के उच्य वर्ग के लोगों द्वारा दलित जाति पर दमन की जानी वाली बात को स्पष्ट करते हुए आनंद तेलतुंबड़े एक जगह लिखते हैं– "दलितों के मुकाबले इनकी श्रेष्ठता की भावना को गाँव के शासक वर्ग द्वारा शह दी गई। शासक वर्ग यह नहीं चाहता था कि यह तबका दलितों के साथ मिल जाए।"9 इसके साथ ही बदलते समय में पिछड़ी जातियों के वर्ग चरित्र को भी समझना जरूरी है।

दलित जातियाँ :– बीते दशकों में दलित जाति के लोगों ने अपने को ब्राह्मणवादी और सामंती जकड़न से खुद को मुक्त करने की अनेक लड़ाइयाँ लड़ी हैं और इसी सामूहिक प्रयास को दलित आंदोलन के रूप में देखा जा सकता है। इन संघर्षों के परिणाम स्वरूप इस समुदाय के कुछ लोगों कि जीवन स्थिति में सुधार देखने को जरूर मिलता है किन्तु, यह नाकाफी है। रामधारी सिंह दिवाकर की कहानियाँ दलित समुदाय के बदल रहे सामाजिक यथार्थ को जाति और वर्ग दोनों ही स्तरों पर देखने का प्रयास करती दिखाई देती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की वर्तमान स्थिति और उनकी चुनौतियाँ इनकी कहानियों के प्राथमिक सवालों मे जुड़ा है। समसामयिक दौर मे जिस तरह की 'व्यवस्था' है और जिस तरह के आरक्षण के नाम का प्रचार है, उससे तो यही लग सकता है कि दलित समाज मखमल की बिस्तर पर सोता होगा और सारे अफसर इसी समाज से आते हैं। 'जाति कोई अफवाह नहीं है' अंबेडकर के शब्दों

में "चाहे आप किसी भी दिशा में देखें, जाति एक ऐसा दैत्य है, जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मारेंगे, आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं, न कोई आर्थिक सुधार।"10 जाति भारतीय समाज की सबसे बड़ी विसंगति मानी जाती है। यह पूरी की पूरी संरचना ही घृणा और अपने से नीचे कहे जाने वाले के शोषण पर टिका है, और इस सोपानीकरण में सबसे नीचे दलित हैं।

उच्चता–निम्नता के द्वन्द्व को और स्पष्ट तरीके से उद्घाटित करती दिवाकर की कहानी 'गांठ' एक गंभीर रचना है, जिसमें अफसर नकछेदी राम के परिवार के लिए तो उनकी जातीय अस्मिता लज्जा का कारण नहीं बनती लेकिन नकछेदी राम अफसर बनने के उपरांत लगातार जाति के निम्नता बोध से ग्रस्त होता है। अपनी जाति के पहचान से लगातार किनारा करता नकछेदी, आर्थिक उपलब्धियों के माध्यम से अपने लिए नए समाज की तलाश करता है। इस कवायद में उसके संबंध अपने ही गाँव के द्विज जाति के लोगों से जुड़ता है। द्विज जातियों के लोग वंचित समुदाय के लोगों की इस मनःस्थिति से भली–भांति परिचित हो चुके हैं और अपना काम निकालने के लिए लगातार व्यवहारिक सम्मान का दिखावा करते हैं। गाँव के दलित पिछड़े समुदाय के लोगों को इस ब्राह्मणवादी कुटिलता की समझ होती है, क्योंकि वो उसी जमीन पर रह रहें हैं वो नकछेदी की तरह मेहमान बन के गाँव नहीं आते है।

समाज में जब कोई पद–प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है तो ये अकेले उसकी खुशी नहीं होती, बल्कि उस जाति समुदाय के लोग भी अपने को गौरवान्वित महसूस करते हैं। नकछेदी भले ही दूसरी तरह की संस्कृति का हिस्सा हो जाना चाहता है, लेकिन जाति उसका पीछा नहीं छोड़ती, एक वक्त के बाद वह सच्चाई भी सामने आ जाती है जिससे वह भाग रहा होता है। घटरा कहने लगा, "पिछले साल तुम आए थे न ड्योढ़ी में बच्चों को लेकर! तुम्हारे जाने के बाद दूसरे या तीसरे दिन बड़की मालकिन ने मुझे आँगन में बुलाया। मैं रोज की तरह हरवाही के लिए ड्योढ़ी गया था। आँगन में बड़का मालिक थे, वकील साहब की मेम साहब थीं। बड़की मालकिन बोली 'रे घटरा, हे ई बरतन ले जाओ। तुम्हारे ही दर–दियाद का जुठारा हुआ है। तुम नहीं ले जाओगे तो डोम को दे दूँगी। दोस्ती रोटी का कौर मुंह के पास पहुंचा भी नहीं था कि नकछेदी के हाथ रुक गए। लगा जैसे सबकुछ अचानक स्थिर हो गया हो। हतप्रभ सा वह घटरा काका का चेहरा देखता रहा"12 रामधारी सिंह दिवाकर दलित जातियों के भीतर चल रहे इस तरह के ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रति मोह के भ्रम को तोड़ने का सार्थक प्रयास करते दिखायी देते हैं।

निष्कर्ष : बीते तीन–चार दशकों में जिस तरह के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन देश में हुए हैं, उसने व्यक्ति के भीतर मौजूद

'वर्ग' की पहचान को और भी ज्यादा स्पष्ट कर दिया है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारतीय समाज में जाति के साथ वर्ग का भी अस्तित्व विद्यमान है, जो अमूमन दिखता कम है लेकिन उपस्थित होता है अप्रत्यक्ष रूप से ही सही। रामधारी सिंह दिवाकर की कई कहानियाँ जाति–वर्ग के एक दूसरे से जुड़े होने और समाज में उसके संचालन प्रक्रिया पर बात करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ–

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सफाई देवता(2008), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.–17
2. वही, पृ.–19
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ– 44
4. निलय उपाध्याय, गांव को जन्म देने की कोशिश में, जीतेंद्र वर्मा (सं.), ग्रामीण जीवन का समाजशास्त्र (2010), राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. – 80–81
5. रामधारी सिंह दिवाकर, मखान पोखर (2015), साहित्य संसद, नई दिल्ली, पृ.– 127
6. वही, पृ.–25
7. रामधारी सिंह दिवाकर, हड़ताली मोड़ (2013), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ.– 22
8. रामधारी सिंह दिवाकर, छोटे–छोटे बड़े युद्ध (2017), आर्य प्रकाशन मंडल, नयी दिल्ली, पृ.– 87
9. आनंद तेलतुंबड़े, जनवादी समाज और जाति का उन्मूलन (2018), रुबीना सैफी (सं.), आधार प्रकाशन प्रा.ली., हरियाणा, पृ.– 30
10. डॉ. भीमराव अंबेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, भाग–1, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2019 पृ.–53
11. रामधारी सिंह दिवाकर, नया घर चढ़े (2019), साहित्य संसद, नई दिल्ली, पृ.–26
12. रामधारी सिंह दिवाकर, रामधारी सिंह दिवाकर की लोकप्रिय कहानियाँ (2019), प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ.– 158

■

हिन्दी दलित कहानियों में सामाजिक जीवन

डॉ. रामप्रवेश रजक ❖

समाज का आरंभ मनुष्य के साथ ही हुआ है। व्यक्ति शायद ही अकेला रह पाया है। वह समाज की महत्वपूर्ण इकाई जो परिवार है उसका वह सदस्य होता है। परिवार में रहते–रहते वह अपने विकास के साथ–साथ के महत्वपूर्ण घटकों से, समूहों से, संस्थाओं से अपना संबंध स्थापित करता है। इसलिए सामाजिकता पर प्रकाश डालने के लिए सबसे पहले 'समाज' शब्द की विवेचना करना महत्वपूर्ण बन जाता है।

प्रस्तावना : 'समाज' समाजशास्त्र एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है मानव समूह। 'गिसर्बर्ग के विचारानुसार' 'समाज निश्चित संबंधों एवं व्यवहार के नियमों में आबद्ध व्यक्तियों का ऐसा संगठित समूह है, जो उसके संबंधों को नकारने वाले तथा उसके भिन्न व्यवहार के नियमों में आबद्ध व्यक्तियों का समाज के सदस्यों से पृथक करता है।'[1] इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए राईट ने लिखा है। मनुष्यों के समूह को समाज नहीं कहा जा सकता बल्कि उस समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है।

पारसन्स के शब्दों में – 'समाज उन मानव संबंधों की पूर्ण जटिलताओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुई हों और वे क्रियाएं साधन व साध्य के संबंधों के रूप में ये प्रतीकात्मक रूप में की गई हों।'[2] गिंडेंग्स के अनुसार – 'समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का सम्मिश्रण है।'[3] मैकलिवन ने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता के साथ समाज के स्वरूप को स्पष्ट किया है – 'समाज' विभिन्न समूहों में उपयोगिता और व्यवस्था, अधिकार एवं परस्पर सहकार्य से युक्त एक व्यवस्था है, जिसमें मानव व्यवहार एवं स्वतंत्र का विभाजन रहता है। ऐसी निरंतर परिवर्तनशील संमिश्र व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का एक ताना–बाना है, जो निरंतर बदलता रहता है।'[4]

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज सिर्फ मानव–संगठन न होकर सामाजिक संबंधों का एक व्यापक जाल है जिसमें मानव से मानव संबंधिताओं का उपसमूह अंतर्भूत होते है। इन सभी

❖ संपर्क : सहायक अध्यापक सह विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय कोलकाता–700073, मो.–9800936139, ई–मेलः rajak.ram2010@gmail.com

में घनिष्ठ मानवीय संबंधित होती है। अतः हम कह सकते हैं कि – 'समाज सामाजिक संबंधों का गतिशील रूप है। साथ ही समाज और व्यक्ति, व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक है।'[5]

भारत में समाज व्यवस्था : भारत विशाल होने के साथ–साथ विकासशील भी माना जाता है। इस विकासशील भारत देश में हिंदू, इस्लाम, क्रिश्चियन, जैन, बौद्ध, पारसी आदि विभिन्न धर्मों की कड़ी में संपूर्ण देश बहुआयामी संस्कृति में पलता आया है। ऊपर हमने जिन विभिन्न धर्मों का वर्णन किया है उन धर्मों में हिंदू धर्म व्यवस्था सबसे पुरानी है। भारतीय समाज व्यवस्था पर अपने विचार व्यक्त करते हुए नारायण राठौड़जी कहते हैं – 'आधुनिक भारतीय समाज की विसंगतियों को समझने के लिए जाति प्रथा के उद्‌भव का वैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है। हम इतिहास के पन्नों को पलट के देखे तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि एक जाति विशेष का वर्चस्व प्रवाहमानकाल से समाज के समस्त अधिकारों को हड़पता रहा है।'[6] भारतीय समाज के अंतर्गत विविध जाति धर्म, संप्रदाय भेदभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति तेजी से बढ़ रही है। निजी स्वार्थ हेतु एक दूसरे को दबाना, शोषण करना मनुष्य की नियति बनती जा रही है। भारत देश की सामाजिक संरचना में इसमें जाति का अपना एक अलग व्यवहार और जीवन स्तर है। डॉ. इति तिवारी के अनुसार 'भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उसकी एक प्रकार्यत्मक भूमिका है। आधुनिकीकरण तथा नगरीकरण के फलस्वरूप जाति व्यवस्था के सांस्कृतिक मानदंड (अंसनम) विलुप्त होते जा रहे हैं।'[7] फिर भी भारत में दलित जाति के परंपरागत तथा वर्ण विभाजन के आधार पर अछूत मानकर उन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से दबाए रखने का प्रयास किया जाता है भले पुराने की, तुलना में आज उसमें बदलाव जरूर आया है। फिर भी भारतीय आधार पर किए जाने वाले शोषण में पूरी तरह परिवर्तन अभी भारत देश में नहीं हुआ है। इसका एक कारण यह है कि हिंदू समाज में कर्म के आधार पर जो जाति का बटवारा हुआ था वह आह जन्म के आधार पर हो गया है।

दलित जाति को लेकर मुंशी प्रेमचंद जी के जो विचार उनकी कहानियों में व्यक्त हुए वह सामाजिक असमानता का सजीव चित्रण है। प्रेमचंद जी की 'ठाकुर का कुआं' यह एक यथार्थवादी कहानी है, जिसमें प्रेमचंद जी ने दलितों की वास्तविक स्थिति का वर्णन किया है। अस्पृश्यता हिंदू समाज को लगा हुआ एक ऐसा महारोग है जिसने व्यक्ति और समाज को पूरी तरह से घेर लिया है। इसके परिणाम स्वरूप छूत–अछूत के भेदभाव के दलित वर्ग की यातना की खाई में धकेल दिया है। दलितों के मसीहा डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने सन 1927 में महाड़ के तालाब पर सत्याग्रह करके उसे दलितों के लिए खुलवाया था। ऐसे ही शुद्ध पानी के अभाव से दलितों की होती बुरी दशा का चित्रण सन 1932 में प्रकाशित प्रेमचंद के 'ठाकुर का कुआं' कहानी में देखने को मिलता है। निम्नजाति का 'जोखू कई दिनों से बीमार है। प्यास के मारें उसका गला सूखा जा रहा है। परंतु घर में इस वक्त जो पानी है वह बदबूदार है। कारण गांव के बाहर दूरी पर

दलित जाति का कुआं था। जोखू की पत्नी गंगी वहां से पानी लाई थी वह काफी बदबूदार था। शायद कोई जानवर कुएं में गिरकर मर गया था। गंगी मजबूरी से वह पानी लाती तो है मगर वह अपने पति जोखू को पानी नहीं पीने देती। वह जानती है कि उस पानी से उसकी बीमारी बढ़ सकती है। ऐसे में शुद्ध पानी अगर की मिल सकता है तो वह ठाकुर और साहू के कुंओं पर मात्र। परंतु समाज ने दलित का पट्टा गंगी के गले में बांधने के कारण वह वहां पानी नहीं भर सकती। परंतु इस वक्त गंगी धैर्य करके ठाकुर के कुएं से पानी लाने की बात जोखू को कहती है। उस वक्त समाज से बहिष्कृतता की करुण व्यथा मुंह से प्रकट होती है। ''हाथ–पाँव तुड़वा आयेंगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण–देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहूजी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी तो है, तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे?''8 जोखू के शब्दों में हिंदू समाज में पली हुई अस्पृश्यता के दबदबे के तले दबे हुए दलितों की जीवन व्यथा का चित्रण मिलता है। किसी प्रकार साहस जुटाकर गंगी पानी लाने ठाकुर के कुएं पर जीती है। भीतर से पूरी तरह डरकर वापस जब घड़े को पकड़ रही थी तब ठाकुर का दरवाजा अचानक खुला। गंगी के मन में बसे ठाकुर का डर, दहशत और आतंक कितना भरा था उसका वर्णन प्रेमचंद जी इस वाक्य से करते हैं ''शेर का मुंह भी इससे अधिक भयानक न होगा। गंगी बिना पानी के ही वापस घर लौटती है तब देखती है कि जोखू लोटा मुंह से लगाए मैला गंदा पानी पी रहा था।''9

इसी प्रकार महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'चतुरी चमार' कहानी मानवीय दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। चतुरी जाति से चमार है। साथ ही जूते बनाना उसका पुराना धंधा है, जिसमें वह पूरी तरह से सक्षम होने से उनके बनाए जूतों की बड़ी तारीफ है। चतुरी थोड़ा पढ़ा–लिखा होने साथ–साथ संघर्ष करने का धैर्य भी रखता है। अपने अधिकार का ज्ञान होने पर अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार के लिए शक्ति होने पर साहस का संचार होता है। चतुरी के द्वारा निराला जी ने दलितों को अन्याय के विरुद्ध लडने की प्रेरणा दी है।

राहुल सांकृत्यायन के 'प्रभा और सुमैर' कहानियों में दलित जीवन का चित्रण मिलता है। प्रभा कहानी में अश्वघोष के माध्यम से भारतीय वैदिक धर्म की शोषण मूलक नीति की आलोचना जातिवादी व्यवस्था का विरोध करती है। कहानी का नायक सुमेर को कहानीकार ने विद्रोही विचारधारा का दिखाया है। सामाजिक समता स्थापित होने के लिए समाजवादी से लिख गई राजनीतिक निबंधात्मक रचना। भागो नहीं (दुनिया को) बदलों में लेखक ने दैन्यावस्था और अधिकार हीनता का विवेचन किया है। महात्मा गांधी जी ने अस्पृश्यों को हरिजन नाम से सम्बोधित किया है। जिसका अर्थ है हरिया भगवान के जन, परंतु भगवान ने दलितों की ओर आंख उठाकर कभी देखा तक नहीं। इससे उनकी दैन्यावस्था की कोई सीमा नहीं रही है। किसी के कुत्ते हलुआ मलिदा खाते है तो हजारों चमार भाई नंगे भूखे मरते है। 'हरिजन' हरि से दूर है। उनके स्पर्श से अपवित्र बने

भगवान को गोबर और गोमूत्र खिलाकर क्या पवित्र नहीं किया जा सकता ? हरिजन के लिए मंदिर का दरवाजा खोल देना चाहिएकृ लेकिन बामन पोथी खोल–खोल दिखाते फिरते है कि चमार मंदिर के भीतर जाने से मंदिर अशुद्ध हो जाता है। भगवान अशुद्ध हो जाता है। मैं तो उनसे कहता हूं, 'देख भाई कि क्या हिंदुस्तान में गाय का गोबर और मूत्र नहीं है क्यों नहीं खिला पिला के भगवान को शुद्ध कर लेते।'[10] भैया के रूप में राहुल सांकृत्यायन का यही सवाल है। भैया का मानना है कि महात्मा गांधी के दलितोद्धार कार्य से दलितों का कुछ विशेष फायदा नहीं हुआ है।

सूरजपाल चौहान की, 'छूत कर दिया' कहानी में शिक्षा के क्षेत्र में उच्च पद पर पहुंचकर सुख वैभव को प्राप्त करने की क्षमता दलित युवक रखते है। परंतु मनुवादी व्यवस्था को सर्वोपरि माननेवाले अपने सम्मान को कब और कैसे चोट पहुंचा देंगे यह कह देना बहुत कठिन है। प्रस्तुत कहानी में धन प्राप्ति के लालच में ग्राम प्रधान बिहारीलाल केन (आई.ए.एस) को गांव का गौरव बताया। वहीं एक–दूसरे को स्वर्ण युवक ने 'अरे चमार के क्या छूत करेगा? कहकर उसका घोर अपमान करता है। उस कहानी के माध्यम से लेखक ने दलित उच्च पदों पर आसीन हुए लोगों को कहानी में नायक बनाया है। साथ ही उन्हें सचेत भी किया है कि मनुवादियों की बातों में आकर है।

सूरजलाल चौहान की कहानी 'प्राण–प्रतिष्ठा' वास्तविक हिंदू धार्मिक मानसिकता की पोल खोलती है। प्रस्तुत कहानी में धर्म के ठेकेदारों की वास्तविकता तथा पुजारी के व्यवहार और बातों से तीर्थ, मंदिर, पूजा, विधि आदि बातों को पाखंड साबित किया है। 'भला दूध और गंगाजल से भगवान की मूर्ति को धोने से क्या उसमें आकर भगवान बस जाएंगे पुजारी ने धीमे स्वर में अपनी बात को जारी रखते कहा उस मूर्ति को हम लोग दूध गंगाजल आदि से धोकर इसलिए पवित्र रखते हैं कि भगवान की मूर्ति को बनाने वाले अछूत व नीच जाति के लोग होते हैं। जाने किस–किस भंगी, कुम्हार या चमार के हाथ उस मूर्ति पर लगते हैं। इसलिए उस मूर्ति को दूध और गंगाजल से धोकर पवित्र किया जाता है।' इस कथन से समझो पूजा विधि का मजाक उड़ाया गया है। इस तरह की विचारधारा का वर्णन ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की कहानी भय' में दिखाई देती है।

प्रस्तुत कहानी में दिनेश (दलित) और राम प्रसाद तिवारी (सवर्ण) की घनिष्ठ मित्रता का वर्णन मिलता है। साथ ही यह भी संकेत स्पष्ट है कि यह मित्रता तब तक ही बनी रहेगी जब तक की तिवारी को दिनेश की जाति का पता न चले। परंपरानुसार दिनेश के घर आज माई मदारन की पूजा होनेवाली थी। साथ ही यह भी मान्यता है कि परंपरानुसार इसकी पूजा बिना मास से नहीं हो सकती। दिनेश के घर उनके मित्र राम प्रसाद तिवारी का रोज का आना जाना था। कभी–कभी दिनेश के साथ उसका खाना भी होता था। जिस दिन वह खाने को रुकता उस रोज दिनेश की मॉ सब्जी में लहसुन तक नहीं डालती थी। ऐसे में इनके घर में मास तो यदा–कदा ही बनता। वह थी तब निश्चित पता होता की तिवारी नहीं आनेवाला होता है। यही वजह थी की आज दिनेश के घर पूजा बंद

करके चल रही थी। अपने मित्र की घर की इस रहन–सहन के कारण इतने वर्षों में तिवारी भी नहीं जान पाया था कि उनका मित्र दिनेश एस. सी. है। कई बार आरक्षण विरोध में रामप्रसाद ने गाली गलौच की भाषा इस्तेमाल की थी। साथ ही भद्दे जबान में डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर और बापू के लिए अपशब्द कहे थे। दिनेश ऐसे क्षणों में चुपि साथ लेता था। कभी–कभी बात बदलने की कोशिश भी करता था। इस सबके बावजूद भी दोनों में आत्मीयता थी। परंतु दिनेश यह जानता था कि जिस दिन दोनों के बीच जाति आ जाएगी यह आत्मीयता पानी का बुलबुला साबित होगी। इस कहानी से प्रतीत होता है कि यहां दिल नहीं जाति रंग लाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की पच्चीस चौका डेढ़ सौ और कुचक इन दोनों कहानियों की कथा लगभग मिलती–जुलती है। सही मायने में यदि कोई श्रमिक वर्ग है तो वह है दलित वर्ग। साथ ही यह वर्ग सर्वाधिक शोषित भी। लेकिन यह शोषित वर्ग अन्य श्रमिक वर्ग से सामाजिक दर्जे से काफी भिन्न हैं आर्थिक रूप से वे दोनों श्रमिक वर्ग एक जैसी स्थिति में हो सकते हैं, पर सामाजिक स्तर पर जिस असमानता और अपमान का शिकार दलित श्रमिक वर्ग होता है वैसा अन्य श्रमिक वर्ग इस असमानता का शिकार नहीं होता। ओमप्रकाश वाल्मीकि की पच्चीस चौका डेढ़ सौ इस कहानी में दलित विद्यार्थी पर हुए अन्याय का चित्रण मिलता हैं स्कूल को पवित्र विद्या मंदिर कहते हैं, उस मंदिर में भी दलित विद्यार्थी के शोषण की कमी नहीं है। बड़ी मेहनत मशक्कत और संघर्ष करके विद्यार्थी पढ़कर नौकरी पेशा करने जाते है। वहां भी उनका शोषण होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी कुचक में ऑफिस में दलित व्यक्ति के शोषण को उजगार किया है।

अपने देश के जातीय भेद के संदर्भ में कहा जाय तो यह एक कड़वा सच है कि अपने ही समाज के एक मजबूत श्रमिक और नमक हलाल वर्ग को हीनता से देखा गया है। जिनके हाथ में सत्ता रही उन्होंने भी कभी इनके सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया है। समाज से कटे रहने के कारण उनकी रहन–सहन, सोच, आचार–विचार में थोड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। इस परिवर्तन के लिए दोनों जिम्मेदार है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार के कारण दलितों ने अपने आप में सुधार कर लिया है। साथ ही इस सुधार के लिए सवर्ण समाज की भी कुछ हद तक मदद मिलती रही है। लेकिन पुरानी मानसिकता में जीने वालों की कमी नहीं है।

कुछ लोग आज भी दलितों का सुधार धर्म के विरुद्ध मानते हैं। सुरजपाल चौहान की कहानी अपना–अपना धर्म इसी मानसिकता का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी में लीलाधर दलित समाज की उन्नति के लिए जब दलित बच्चों में शिक्षा का प्रचार करके लिखा–पढ़ाई का काम शुरू करता है। तब सवर्ण अंकुरों को यह देख नहीं गया। उनके कार्य में बाधा उत्पन्न करके दलित बच्चों की शिक्षा को समाप्त करने हेतु लीलाधर की ही हत्या करवा देते हैं। इस कार्य के बाद उन्हें किसी बात का पाप बोध में नहीं जंचता क्योंकि उनके विचारों में वह धर्म विरुद्ध कार्य था उनके लिए छोटी जाति में लेकर पढ़ना–लिखना धर्म विरुद्ध कार्य था।

इस प्रकार दलितों के विकास में बाधा उत्पन्न करनेवाले काफी उदाहरण हमको मिल जाते हैं।

निष्कर्ष : उपर्युक्त कहानियों में वर्णित असमानता, अश्पृश्यता, छुआछूत की विचारधारा का चित्रण देखकर मन में यह सवाल आता है कि आखिर यह कब तक यह जाति के आधार पर असमानता का सिलसिला जारी रहेगा? कब तक एक मेहनतकश वर्ग को इस प्रकार लताड़ जाएगा? कब तक देश की प्रगति में सहायक बननेवाले इस वर्ग को दूर रखा जाएगा? इस असमानता को बढ़ावा देने वाले समाज के दाँत खट्टे करने हों तो एक ही उपाय है और वह है जाति से भी कर्म की श्रेष्ठता को साबित करके दिखाना।

असमानता की दृष्टि को जिन कहानियों में देखा उन कहानियों में वास्तविक दुखद बात यह दिखाई देती है कि दलित समाज की पराधीनता और अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष की भावना। दलित कहानी एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के साथ अपने सामाजिक संबंध की कथा कहती है।

संदर्भ सूची

1. वर्मा, डॉ. ज्ञानेन्द्र सिंह, फणीश्वरनाथ रेणू का कथा साहित्य, समाज शास्त्रीय अध्ययन, उपकार प्रकाशन, आगरा, प्र. सं. –1996, पृ. 17
2. वही, प .–17
3. वही, प .17
4. वही, प .17
5. वही, प .17
6. शर्मा, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिंतन, साहित्यगार प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं.–1990, पृ.–126
7. तिवारी, डॉ. इति, भारतीय समाज का आधुनिकरण, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.–1998, पृ.–47
8. गोयनका कमल किशोर (सं.), प्रेमचन्द की संपूर्ण कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–2024, पृ.32
9. वही, पृ.–35
10. सांकृत्यायन, राहुल, भागो नहीं दुनिया को बदलो (कहानी संग्रह), किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2018, पृ.–27

■

बृहद संहिता के परिप्रेक्ष्य में
गुप्तकाल में वर्षा का अनुमान एवं भविष्यवाणी

वरुण कुमार वशिष्ठ / चन्द्रशेखर पाल *

प्राचीन भारत में गुप्तकाल अपनी कला एवं संस्कृति के साथ अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिए महत्वपूर्ण रहा है। कृषि क्षेत्र के विकास के साथ–साथ जल प्रबन्धन प्रणाली में भी अनेक अनुसंधान हुए। इसकी जानकारी के पुरातात्विक व साहित्यिक स्त्रोत उपलब्ध होते है। इसके अतिरिक्त विदेशी यात्रियों का विवरण भी महत्वपूर्ण स्त्रोत है। विभिन्न साक्ष्यों के आलोक में गुप्तकालीन कृषि एवं जल संसाधन प्रणाली का विवेचन किया जा सकता है। इस काल कृषि एवं जल प्रबन्धन तकनीक में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलते है। जल संचयन एवं जल ससाधन में नवीन तत्वों का समावेश हुआ तथा पूर्व कालीन व्यवस्थाओं में अमूलचूल परिवर्तन हुआ। गुप्तकाल के साहित्यिक साक्ष्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वराहमिहिर की बृहद संहिता को माना जाता है। वराहमिहिर की वृहत्संहिता का विश्लेषण करते हुए विजय कुमार ठाकुर ने लिखा है कि 'वृहत्संहिता पांचवी भाताब्दी के अंतिम दशक और छठी शताब्दी के प्रारम्भिक दशक के लिए एक उपयोगी दस्तावेज है। इस ग्रंथ में खगोलीय विषयों जिनमें ग्रह, तारे, नक्षत्र इत्यादि के लक्षणों के आधार पर जलवायु सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की भविष्यवाणी की गई है, जिसके फलस्वरूप कृषि क्षेत्र को अनेक प्रकार से लाभ हुआ है। इसमें कलियुग के प्रारम्भिक निर्देश का अनुसरण किया गया है। इस समय उत्पादन की प्रकिया पर अत्यधिक दवाब की स्थिति देखने को मिलती है। इन सभी स्थितियों से निपटने के लिए वृहत्संहिता में अनेक प्रकार के नियमों का उल्लेख किया गया है। अनेक प्रकार के अंधविश्वास के बावजूद वृहत्संहिता समकालीन कृषि का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है।"

बृहद संहिता एक ज्योतिष ग्रंथ है, जिसमें अनुमान व भविष्यवाणियों के आधार पर उस समय के अकाल, बाढ़ तथा वर्षा की घटनाओं का वर्णन किया गया है। वराहमिहिर ने वर्षा के कारणों का विस्तार से विवेचन किया है, जिसमें ग्रहों की गति, नक्षत्र, राशि, संवत्सर, पशु–पक्षी, मेघ, इन्द्रधनुष, सूर्य एवं चन्द्रमा की स्थिति, तुला व द्रव्य इत्यादि के आधार पर वर्षा का अनुमान एवं भविष्यवाणी

❖ संपर्क : शोध छात्र, पंडित सुन्दरलाल मेमोरियल डिग्री कॉलेज, कन्नौज छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

की गई है। इसके अतिरिक्त जल के अन्य स्त्रोत रूप में नदी, झील, नहर, कूप एवं जलाशय का उपयोग किया जाता था।

वराहमिहिर ने कृषि के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की भविष्यवाणियाँ की है, जो कि अन्न के उपजाने की विविध विधियों से सम्बन्धित है। कृषक के भाग्य के सम्बन्ध में उनकी अनेक भविष्यवाणियाँ है, जो कि कृषकों की खुशहाली तथा उनके विनाश से सम्बन्धित है। वराहमिहिर ने 16 भविष्यवाणियाँ की है, जिनमें से 45 सुखे की, 63 विनाश की तथा 53 अच्छी फसल के सम्बन्ध में है। इस जगत के समस्त प्राणियों का जीवन अन्न पर आश्रित है तथा अन्न वर्षा पर। हमकों बसन्त के आगमन का स्वागत करना चाहिए।[1] प्रतिपदा के प्रथम दिवस पर जैसे वर्षा होती है, ठीक उसी के समान सम्पूर्ण मास में अनवरत वर्षा होती रहे। वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ वृहत्संहिता का एक पूरा अध्याय जल सिंचन के अन्वेषण पर लिखा है। इस अध्याय में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए सिंचाई के महत्व को रेखांकित किया गया है। इसमें जल के सौ से अधिक स्त्रोतों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है। जल स्त्रोतों के कारण अर्द्धमरूस्थल क्षेत्रों में कृषि कार्य संभव हो पाता था। वराहमिहिर के अनुसार एक आयताकार जलाशय, जिसका पूर्वी एवं पश्चिमी किनारा लंबा हो, उसमे अधिक समय तक पानी को जमा किया जा सकता था। इसके विपरीत यदि उसका दक्षिणी और उत्तरी किनारा लम्बा हो तो पानी को अधिक समय तक रोका नही जा सकता था। इसका कारण यह है कि हवा के बहाव से यह नष्ट हो जाता है। इससे बचने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि लकड़ी के बड़े–बड़े गट्ठर तथा पत्थर के टुकड़े तालाब के किनारे डाल दिए जाने चाहिए।

बृहद संहिता में चन्द्रमा के सम्बन्ध में कहा गया है कि आकाश में प्रत्येक दिवस चन्द्रमा के अनेक रूप देखने को मिलते है। कभी यह आकार में छोटा होता है, तो कभी बड़ा। इन सभी रूपों का कोई न कोई विशेष अर्थ होता है। चन्द्रमा की इन विविध कलाओ के सम्बन्ध में वराहमिहिर ने लिखा है कि यदि चन्द्रमा का सर्ग उत्तर दिशा की तरफ उन्नत हो तो धान्य की वृद्धि होती है तथा अच्छी वर्षा होती है।[2] यदि चन्द्रमा का आकार बृहद अथवा दीर्घ रूप में दिखाई दे तो, तो समझना चाहिए कि दुर्भिक्ष की संभावना होगी।[3] चन्द्रमा के अतिरिक्त वराहमिहिर ने अनेक ग्रहों की चर्चा की है, जिसके प्रभाव से पृथ्वीय जीवन पर लाभकारी एवं हानिकारक प्रभाव पड़ते है। अग्नि की चर्चा करते हुए वराहमिहिर लिखते है कि अग्नि का एक अन्य नाम मित्र होता है। इस ग्रह के काल में उत्तम वर्षा होती है तथा धन–धान्य की सर्वाधिक वृद्धि होती है। जिस ग्रहण का स्वामी चन्द्रमा होता है, उस ग्रहण में द्विजों की संख्या में विस्तार होता है तथा धन–धान्य के साथ पशुओं की संख्या में भी वृद्धि होती है।[4] यदि राहु ग्रह ग्रहण से पहले पूर्व दिशा में दिखाई दे, तो सम्पूर्ण भूमि वर्षा जल से भर जाता है।[5] यदि चन्द्र एवं सूर्य ग्रहण हो तथा उसी समय राहु दिखाई दे तो वर्षा धीरे–धीरे होती है।[6] मार्गशीर्ष के मास में चंद्र ग्रहण पूर्णिमा में हो तथा सूर्य ग्रहण अमावस्या को हो तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर

अच्छी वर्षा होती है।[7] इसी प्रकार यदि माघ मास में ग्रहण की स्थिति उत्पन्न हो तो अनुकूल वर्षा होती है।[8]

चैत्र मास की अमावस्या को यदि सूर्य ग्रहण तथा पूर्णिमा को चन्द्र ग्रहण हो तो पृथ्वी पर विचित्र प्रकार की वर्षा होती है। अर्थात् कुछ स्थानों पर वर्षा होती है तथा कुछ स्थानों पर नही होती है।[9] यदि ग्रहण ज्येष्ठ मास में हो तो वर्षा अत्यधिक होती है। इसी प्रकार यदि आषाढ़ मास में ग्रहण हो तो मंडल वृष्टि होती है अर्थात् कुछ स्थानों पर होती है तथा कुछ स्थानों पर नही होती है।[10]

वराहमिहिर ने मेघों के आधार पर भी वर्षा का अनुमान लगाया है, जिसका विस्तृत विवरण बृहतसंहिता मे किया गया है। यदि मेघ रजत के समान मोती वाले, काजल के समान काले तथा जल में निवास करने वाले जन्तु के समान आकृति वाले हो तो इस प्रकार के मेघों के द्वारा उत्तम वर्षा होती है।[11]

नक्षत्रों के आधार पर वर्षा का अनुमान वराहमिहिर के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यदि चन्द्रमा शतभिषा, अश्लेषा, आर्द्रा, स्वाति तथा मघा जैसे किसी भी एक नक्षत्र में स्थिति हो तो आग्रहायन मास से वैशाख माह तक आग्रहायन मास में 8 दिन, पौष मास में 6 दिन, माघ महीने में 16 दिन, फाल्गुन माह में 20 दिन, चैत्र मास में 20 दिन तथा वैशाख मास में 3 दिन वर्षा होती है।[12] यदि गर्भकालीन नक्षत्र क्रूर ग्रह अर्थात् शनि, राहु, केतु युत अथवा संयुक्त हो तो ओल, अशानी तथा मत्स्य वर्षा होने की संभावना होती है। यदि वही गर्भकालीन नक्षत्र में चन्द्रमा, सूर्य, गुरु, शुक्र व बुध जैसे शुभ ग्रहों की युति हो अथवा उनकी दृष्टि हो तो मेघों द्वारा अत्यधिक मात्रा में जल वर्षा कराई जाती है।[13]

रोहिणी नक्षत्र के समय आकाश में सांध्यकालीन राग मे रंगे नीलकमल के समान मेघ की बूंदे पीताम्बर धारण किए हुए विष्णु देव की क्रांति का हरण करे और चातक तथा मेंढक के शब्दों से युत मधुर शब्द गुंजायमान हो तथा मेघ गर्जन का परस्पर सहयोग मिल जाए तो आकाश में व्याप्त मेघ धरती पर अत्यधिक जल की वर्षा करते हैं। इस प्रकार उक्त प्रकार के मेघ अंश आकाश में दो अथवा तीन दिन फैले रहते है, तो मनुष्यों में उल्लास तथा जल की बारिश होती है। पशुओं से वर्षा का अनुमान लगाते हुए कहा गया है कि सांध्यकाल में जब गायें चरकर वापस लौट रही हो, तो उसमें पशुओं में सबसे आगे बैल अथवा काला पशु हो तो उस वर्ष वर्षा अधिक होती है।[14] यदि श्वेत पशु आगे हो तो वर्षा मध्यम होती है।[15]

बृहद संहिता में सप्तयुगांतर के अन्तर्गत पांच सवत्सर के नाम तथा उनके फलों का उल्लेख किया गया है। इसमें प्रथम बृहस्पति की गति के वंश में सप्तम युग का प्रथम हेमलम्ब सवत्सर में तीव्र वायु से युत जल की वर्षा होती है। द्वितीय विलंबी सवंत्सर में धान्य एवं जल वर्षा की अल्पता होती है। तृतीय विकारी संवत्सर में प्रचुर मात्रा में वर्षा होती है तथा पंचम संवत्सर में शुभ फल देने वाला होता है।[16] वराहमिहिर कहते है कि एकादशी आश्विन युग में पांच संवत्सर होते है, जिनमें प्रथम पिंगल संवत्सर में अतिवृष्टि होती है तथा द्वाद्वश संवत्सर में विषम प्रकार की वृष्टि होती है।[17]

वराहमिहिर ने वायु की दिशा के आधार पर वर्षा का अनुमान लगाया है। उनका कहना है कि यदि वायु की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर गतिमान हो, जिसे उत्तर भारत में पुरवईया कहते है, उस स्थिति में धान्य की उत्तम फसल होती है। यदि वायु की दिशा पश्चिम की ओर हो, तो ये पवने उत्तम जल की वर्षा करती है। यदि पवन के चलने की दिशा दक्षिण–पश्चिम की ओर हो, तो पवने उत्तम जल की वर्षा करती है। यदि पवन की दिशा दक्षिण में हो तो हल्की–हल्की वर्षा होने की संभावना होती है। यदि पवन की दिशा उत्तर की ओर हो तो झंझावत के साथ वर्शा होने की संभावना होती है। ईशान कोण अर्थात् उत्तर–पूर्व की दिशा से चलने वाली वायु अत्यन्त शुभ होती है, जिसमें शुभ जल वर्षा होती है। नेवित्यकोण अर्थात् दक्षिण–पश्चिम दिशा की ओर चलने वाली हवाओं से मध्यम स्तर की वर्षा होती है।[18] चन्द्रमा एवं अन्य ग्रहों की गोचर स्थिति को देखकर भी वराहमिहिर ने वर्षा की भविष्यवाणी की है। वृहतसंहिता में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन किया गया है। यदि कृष्ण पक्ष में किसी व्यक्ति के द्वारा वर्षा का प्रश्न किया जाए तो उस समय चन्द्रमा यदि जल चर राशि अर्थात् कर्क, वृश्चिक तथा मीन राशियों में स्थित हो अथवा चन्द्रमा लग्न में अथवा केन्द्र में अर्थात् प्रथम, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम भाव में स्थित हो तथा इन सभी योगों में चन्द्रमा भुभ ग्रह अर्थात् वृहस्पति, शुक्र, बुध द्वारा दृष्ट हो तो बहुत जल्द ही अधिक मात्रा मे वर्शा होती है।**[19]** यदि वर्षा काल में चन्द्रमा शुक्र राशि ग्रह से सप्तम राशि से होकर शुभ ग्रहों द्वारा दृष्टिगत हो तथा सूर्य पुत्र शनि पंचम, सप्तम अथवा नवम राशि में स्थित हो तो शुभ ग्रह जलागम के कारण बनते है।[20]

वृहतसंहिता में वर्षा का अनुमान वृक्षों के आधार पर भी किया गया है। इसमें कहा गया है कि यदि अर्जुन वृक्ष में वृद्धि दिखाई दे तो यह समझना चाहिए कि अच्छी वर्षा होने की संभावना है। जिस समय वृक्ष गुल्म व लताओ के पत्ते चिकने व छिद्र रहित दिखाई पड़े, तो अच्छी वर्षा की संभावना होती है। इसी प्रकार यदि इन सभी वृक्षों के पत्तों में रूद व छिद्र के समान आकृति दिखाई दे तो समझना चाहिए कि उस वर्ष कम मात्रा में वर्षा होगी।[21]

विभिन्न जीव जंतुओ की विभिन्न क्रियाओं के आधार पर भी वर्षा का अनुमान वृहतसंहिता में लगाया गया है। इसमें कहा गया है कि यदि जल की मछलियाँ अतिशय उछल कूद करे तथा मेंढकों के द्वारा बार–बार आवाज निकाली जाए तो यह वर्षा होने के लक्षण होते है।**[22]** यदि भूमि पर बिल्ली बार–बार अपने नखूनों से खुदाई करे, लोहे से कच्चे मांस की तरह दुर्गन्ध आए, छोटे–छोटे बालकों के द्वारा रेत इत्यादि के माध्यम से मार्ग अथवा सेतु बनाना वर्षा की संभावना को व्यक्त करता है। बिना किसी कारण के चीटियों का अपने अण्डों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना। सर्पो का अपने जोड़ों के साथ यौन क्रिया में लिप्त होना। सर्पों का जोड़ों के साथ इस प्रकार की क्रिया में लिप्त होकर वृक्ष पर सबसे ऊपर जाकर बैठना तथा गाय के द्वारा बिना किसी कारण के उछल कूद करना शीघ्र वर्षा की तरफ संकेत करता है।[23] इसी प्रकार जब गिरगिट पेड़ो की शीर्ष

शाखा पर बैठकर आकाश की तरफ मुंह करके देखे और गायो की दृष्टि बार – बार ऊपर की तरफ हो तो यह वर्षा होने की संभावना को व्यक्त करता है।

वराहमिहिर ने अनावृष्टि की संभावनाओं का वर्णन किया है। यदि सौम्य नामक वर्ष अर्थात् मार्गशीर्ष न हो तो वर्षा नहीं होती है।[24] यदि ग्रहण काल के प्रारम्भिक समय में ही मध्य स्थल में प्रकाश प्रकाशित हो तो श्रेष्ठ वर्षा नहीं होती है अर्थात् थोड़ी वर्षा होती है। यदि वृहस्पति का वर्ण धूम हो जाए तो अनावृष्टि की स्थिति उत्पन्न होती है।[25] इसी प्रकार यदि शुक्र ग्रह के आगे सेनापति अर्थात् मंगल ग्रह गमन करता है, तो वर्षा का अभाव होता है। यदि शुक्र भस्म की तरह काला वर्ण का हो जाए तो वर्षा नहीं होती है। सूर्यपुत्र शनि यदि मूल नक्षत्र में आकर विराजमान हो जाए तो वर्षा नहीं होती है। अमावस्या के दिन आकाश के पूर्वार्ध में उदित धूम वर्ण की किरणे करने वाला कपाल केतु के दर्शन हो जाए तो पृथ्वी पर दुर्भिक्ष की संभावना होती है।[26] वराहमिहिर ने अत्यधिक वर्षा को अकाल का प्रमुख कारण बताया है। इसका एक अन्य प्रमाण जूनागढ़ शिलालेख से प्राप्त होता है, जिसमें अत्यधिक वर्षा के कारण सुदर्शन झील में दरार पड़ गई थी तथा इसके फलस्वरूप बाढ़ आ गई थी, जिससे बड़े क्षेत्र में फसलों का विनाश हो गया था। जो कृषक कृषि के लिए पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर रहते थे, उन्हें सूखें एवं अकाल जैसी स्थितियों का अक्सर सामना करना पड़ता था। इससे या तो फसल का विनाश हो जाता था अथवा उत्पादन में कमी हो जाती थी। वराहमिहिर को बारह वर्ष के अकाल की पूरी जानकारी थी। वर्षा में लगातार होने वाली कमी ने भी फसलों को अत्यधिक नुकसान पहुँचाने का कार्य किया था। कृषि भूमि के अपरदन तथा पौधों की कमी के लिए वर्षा के देवता वरूण को जिम्मेदार माना गया है, जिन्हें अंबुपति तथा जले वर की उपाधि दी गई थी। इनकी पूजा इस प्रकार के विपत्ति के समय की जाती थी।[27]

प्राचीन भारत के प्रारम्भिक दौर में कृषि केवल जीविकोपार्जन के लिए होती थी, क्योंकि सिंचाई के पर्याप्त साधनों का अभाव था। सिंचाई की नवीन तकनीक व अनुमानों से कृषि क्षेत्र में व्यापक स्तर पर परिवर्तन देखने को मिलता है। गुप्तकाल में वृहतसंहिता के द्वारा सिंचाई के क्षेत्र में वर्षा के अनुमानों ने एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का कार्य किया। इसके प्रकाश में कृषक अपनी फसलों में अपेक्षानुरूप परिवर्तन करने में सफल हो जाता था। इसके माध्यम से कृषकों ने अपनी खाद्यान क्षमता में अपेक्षाकृत वृद्धि की। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिशेष उत्पादन अधिक मात्रा में होने लगा। जल प्रबन्धन, जल संरक्षण व संग्रहण इत्यादि का विकास हुआ। वराहमिहिर जैसे विद्वानों ने अपने वैज्ञानिक अनुमानों के द्वारा अनेक तत्वों को प्रकाश में लाने का कार्य किया। उनके द्वारा व्यवहारिक जीवन में विज्ञान के अनेक गुणों को समझाने का प्रयास किया तथा वर्षा पर एक गंभीर एवं निश्चित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का कार्य किया। इससे वर्षा के प्रति आम जनता की समझ विकसित हुई तथा उत्पादन में उत्तम प्रकार की वृद्धि हुई। इससे मानव के भौतिक संसाधनों का भी विकास हुआ। इस

भू–लोक के प्राणियों को वैज्ञानिक सोच के साथ आगे बढ़ने को प्रेरित किया तथा उनका मार्गदर्शन किया।

सन्दर्भ ग्रंथ

1 वराहमिहिर, वृहतसंहिता, गर्भलक्षणायः श्लोक– 1, चौखम्बा प्रकाशन विद्या भवन, वाराणसी, 2017, पृ0सं0–154

2. वही, पृ0 सं0 31
3. वही, पृ0 सं0 31
4. वही, पृ0 सं0 41
5. वही, पृ0 सं0 44
6. वही, पृ0 सं0 49
7. वही, पृ0 सं0 52
8. वही, पृ0 सं0 53
9. वही, पृ0 सं0 53
10. वही, पृ0 सं0 53
11. वही, पृ0 सं0 158
12. वही, पृ0 सं0 160
13. वही, पृ0 सं0 161
14. वही, पृ0 सं0 173
16. वही, पृ0 सं0 77
17. वही, पृ0 सं0 79
18. वही, पृ0 सं0 179
19. वही, पृ0 सं0 183
20. वही, पृ0 सं0 187
21. वही, पृ0 सं0 190
22. वही, पृ0 सं0 184
23. वही, पृ0सं0 184
24. वही, पृ0सं0 69
25. वही, पृ0सं0 72
26. वही, पृ0सं0 104
27. वही, पृ0सं0 81

■

भारतीय संस्कृति के आयाम

मध्य एशिया और सुदूर पूर्व

संतोष कुमार गुप्ता *

यह शोध पत्र मध्य एशिया, पूर्व और सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति के प्रसार से संबंधित है। चीनी भाषा में वर्णित रामायण की घटनाओं का वर्णन कई तरह से अलग होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रचलन को चीन और मध्य एशिया के देशों में दर्शाता है। यहाँ न केवल बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार हुए बल्कि हिन्दू धर्म के अस्तित्व और उसके महत्व का ऐतिहासिक विकास हुआ । भारतीय संस्कृति के दक्षिण पूर्व एशिया में फैलाव को इतिहासकारों ने वृहद् रूप में वर्णित किया है लेकिन पूर्व एशिया में शोध आलेखों की काफी कमी रही हैं, विशेषकर हिंदी भाषा में। यहाँ बौद्ध संस्कृति के साथ साथ भारत की हिन्दू संस्कृति भी अपनी छाप छोरी जो इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं। इस्लामिक संस्कृति के मध्य–एशिया में प्रवेश के पहले निश्चित रूप से भारीतय संस्कृति का प्रभुत्व रहा इससे इतिहासकार भी सहमत हैं। लेकिन इस दिशा में शोध आलेख की कमी और क्षेत्रीय भाषाओँ में अनुवाद की कमी से हमें ऐसा प्रतीत होता है, लेकिन इतिहास की सच्चाई कुछ और है। रामायण के राम कथा से लेकर भगवत गीता के बासुदेव और, विष्णु के अवतारों की कथा नारायण के रूप में प्रचलित ही नहीं रही, बल्कि मध्य–एशिया और पूर्व–एशिया में अपनी अमिट छाप छोरी। यहाँ वर्णित रामायण और महाभारत के पात्रों को भले ही दूसरे परिप्रेक्ष्य में दर्शाया गया हो लेकिन कहानी की मूल भावना पुरातन की तरह चलती रही। यहाँ प्रचलित कहानियों के नायक राम, नर और नारायण और उनके बीच सम्बन्धों को भले ही सूक्ष्मता से आत्मसात नहीं किया गया हो लेकिन उनका विवरण ऐतिहासिक है, ऐसा इसलिए भी हो सकता है की इन कथाओं को संस्कृत से विदेशी भाषाओँ में अनुवाद किया गया था।

मध्य एशिया में भारत की पुरातन संस्कृति : रामायण के राम और महाभारत के नारायण – मध्य एशिया, चीन और सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म का प्रसार तथा बौद्ध धर्म का विस्तार ईसाई युग से पहले खोतान से लोबनोर क्षेत्र तक था, यहीं नहीं ब्लकि भारतीय उपनिवेशों के मूर्त पुरातात्विक और साहित्यिक स्रोतों को स्थापित करता है। पुरातात्विक और साहित्यिक स्रोत

* संपर्क : डी ब्लॉक 320, ये यस एल, एमिटी यूनिवर्सिटी मानेसर, गुडगाँव– 122413 (हरियाणा), फोन – 7042302440, ईमेल – santokgupta@hotmail.com

प्रमाणित करते हैं कि हिंदू और बौद्ध संस्कृति ने मध्य एशिया, पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया में प्रवेश किया। कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ भारत के महाकाव्य से ली गई हैं और उनका अनुवाद विदेशी भाषाओं में हुआ है। भारतीय संस्कृति के प्रसार विशेषरूप से रामायण कि कहानियाँ (राम और सीता की कहानी) और रेशम–मार्ग के अस्तित्व की ऐतिहासिक संदर्भ में व्याख्या की जानी चाहिए। रामायण और महाभारत जैसे दो महाकाव्य का प्रसार हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म का पूर्व की ओर प्रसार के साथ हुआ था । बौद्ध धर्म कि तीन जातक कथाएँ– राजा दशरथ, वानर राजा सुग्रीव, और शम्बूक कि कहानियों को वर्णित करते हैं और निश्चित रूप से मध्य एशिया और चीन में रामायण के कथा के प्रसार के प्रारंभिक निर्णायक ग्रंथ हैं। मधय एशिया और चीन के विवरण से स्पस्ट होता है कि रामायण कि घटना को समझने कि कोशिश तो हुई है लेकिन उसके पात्रों और दृश्यों में कई परिवर्तन किये गए। राम के 14 वर्ष के वनवास को छोड़कर कहानी बिल्कुल वैसी ही है। दूसरी कहानी में और भी विविधताएँ हैं जैसे राम को बौद्ध धर्म से जोड़ा गया और उन्हें बोधिसत्व के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ यह वर्णित है कि राम अपने दुष्ट चाचा के हाथों अपना राज्य खोने के बाद अपनी रानी के साथ जंगलों में चले गए, और उनका अपहरण ड्रैगन के द्वारा किया गया। यह बिदित हो कि इस कहानी में रावण का स्थान एक समुद्री ड्रैगन ने ले लिया है जो रानी का अपहरण कर लेता ह। इस कहानी में वर्णित स्थान ड्रैगन की गुफा वस्तुतः अशोक वाटिका को वर्णित करता है। वानर नरेश सुग्रीब को एक दुःखी बंदर के रूप में दर्शाया गया है जिसका राज्य भी उसके चाचा ने छीन लिया थ। मध्य एशिया में राम कहानी की लोकप्रियता लगभग 900 पंक्तियों की मिश्रित गद्य और पद्य में एक लंबी कहानी से भी प्रमाणित होती है, जिसका उल्लेख तिब्बती भाषा में संरक्षित पांडुलिपि में किया गया है। तिब्बती–चीनी भाषा में उलेखित शब्द जैसे कि त्सौ लम्मा (दशरथ), लोमा (राम), लंग का सिप हो, नांगसीदा (सीता) के लिए उपयोग किये गया है। यही नहीं चीन और मध्य एशिया में प्रचलित रामायण के पात्रों के बीच के सम्बन्ध को भी स्पष्ट रूप से नहीं दर्शाया गया है। जैसे कि अनुवाद से पता चलता है कि रामायण कि सीता को दशरथ की बेटी के रूप में वर्णित किया गया है। तिब्बती–चीनी भाषा में वर्णित रामायण कि घटनाओं का वर्णन कई तरह से अलग होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रचलन को चीन और मध्य एशिया के देशों में दर्शाता है।ख हेरोल्ड वाल्टर बेली, बौद्ध मध्य एशिया में कहानी सुनाना (story&telling), एक्टा एशियाटिका, पूर्वी संस्कृति संस्थान का बुलेटिन, 23, टोक्यो, 1972, पृष्ठ 67–68। इस कहानी में, दशरथ का उल्लेख दादा के रूप में किया गया है, जो वास्तव में रामायण में राम के पिता थे। यह राम महाकाव्य का एक रूपांतर है। इसके अलावा, राम के पिता के रूप में सहस्रबाहु एक मध्य एशियाई प्रक्षेप है। इसके अलावा, खोतान में राम कहानी 255 पंक्तियों में रचित है और इसमें दादा के रूप में दशरथ की कहानी है। और सहस्त्रबाहु राम के पिता के रूप में। ये काव्यात्मक संस्करण कहानियाँ केवल राम

का ही वर्णन नहीं कर रही हैं, बल्कि कथोतानीज, तुर्की और तिब्बती–चीनी में मैत्रेय बुद्ध का भी वर्णन कर रही हैं।ऊ हेरोल्ड वाल्टर बेली, बौद्ध मध्य एशिया में कहानी सुनाना (story & telling), 1972, पृष्ठ 70।

पश्चिम पामीर क्षेत्र में ताजिकिस्तान के दारशाई में पाए गए सबसे पुराने रिकॉर्ड में खरोष्ठी लिपि में हिंदू भगवान नारायण का उल्लेख है। यह सर्वविदित है कि नारायण हिंदू धर्म में भगवान विष्णु का दूसरा नाम है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारायण की हिंदू पूजा मध्य एशियाई क्षेत्र में प्रचलित थी। भगवान वासुदेव कृष्ण और विष्णु के एकीकृत नाम को पहली से चौथी शताब्दी ईस्वी में नारायण के रूप में जाना जाता था। बेसनगर का स्तंभ शिलालेख जिसे हेलियोडोरस शिलालेख के नाम से जाना जाता है, विदेशियों द्वारा भागवत धर्म की स्वीकृति को दर्शाता है। अन्य खानाबदोश जनजातियों की तरह, सोग्डियन ने उत्तरी चीन में ही नहीं, बल्कि तुर्किस्तान और मध्य मंगोलिया में भी भारतीय संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1956 में मध्य मंगोलिया में खोजा गया बुगुट शिलालेख इस क्षेत्र में सोग्डियन जनजाति की सांस्कृतिक गतिविधियों की पुष्टि करता है।

प्राचीन खोतानियों की परंपराओं में कहा गया है कि कुस्ताना नाम के राजा, जो चक्रवर्ती सम्राट अशोक के एक बेटे का नाम है, ने 240 ईसा पूर्व में निर्वाण के 234 साल बाद एक राज्य की स्थापना की थी, और बाद मे उनके पोते, विजयसंभव ने खोतान में बौद्ध धर्म की शुरुआत की थी। 211 ईसा पूर्व में, पहले मठ का निर्माण किया गया था। किंवदंतियाँ कहती हैं कि अशोक के कई बेटे और बेटियाँ थीं, यह इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि अशोक अक्सर अपनी घोषणाओं में उनका उल्लेख करते थे। इसके अलावा, इसी तरह के स्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं कि अशोक ने राजकुमारों (कुमारों या आर्यपुत्रों) को तक्षशिला जैसे शहरों में वाइसराय के रूप में भेजा था और कुणाल, एक राजकुमार थे जो विशेष रूप से अपनी संस्कृतिक उपलब्धियो के लिए उत्तर–पश्चिमी भारत में श्रद्धेय उत्तरी बौद्धों के बीच प्रसिद्ध थे।

दक्षिण–पश्चिम चीन में एक राज्य नान–चाओ की स्थापना से संबंधित किंवदंती में फू–पैंग, होंग–डे और जी–डे अशोक के पुत्रों के रूप में वर्णित किये गये है। माना जाता है कि तीनों में सबसे छोटे जी–डे, नान–झाओ के शाही परिवार मेंग के संस्थापक थे। यामाजाकी गेलिची, 'मौर्य युग में बौद्ध धर्म का प्रसार, महिंदा लीजेंड के विशेष संदर्भ में, एक्टा एशियाटिका, 'टोक्यो' पूर्वी संस्कृति संस्थान का बुलेटिन, वॉल्यूम। 43, 1982, पीपी. 9–15., जुआन–जैंग की ऐतिहासिक संदर्भ के अनुसार, महिंदा अशोक के छोटे भाइयों में से एक थे।

परिचय, विस्तार और कई संप्रदायों में शाखा के माध्यम से मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म के अध्ययन में साहित्यिक, पुरालेख, यात्रा वृत्तांत और विशाल क्षेत्र में प्राचीन बौद्ध स्थलों के स्मारकीय अवशेषों जैसे स्रोत सामग्री के विविध पहलुओं की व्याख्या शामिल है। मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों ने अलग–अलग

समय में तथागत बुद्ध के संदेश को कई माध्यम से प्रसारित किया – शाही दूतों, व्यक्तिगत विद्वानों और यहां तक कि व्यापारिक और व्यापारिक महिलाओं ने भी भारतीय संस्कृति के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्वदेशी का उत्साह और जिज्ञासा भी बौद्ध धर्म के विस्तार में एक सहायक कारक रही होगी, जो कुछ शताब्दियों में न केवल मध्य एशिया में बल्कि चीन और फिर पूर्व में जापान में भी बहुत लोकप्रिय हो गया।

अशोक साम्राज्य के विघटन के बाद, बैक्ट्रिया, मध्य एशिया और तूतकिस्तान में बसे यूनानी, शक, कुषाण लोग प्राच्य राजनीति में सक्रिय रुचि लेने लगे। इन सबसे ऊपर, खानाबदोश जनजातियों ने न केवल भारतीय संस्कृति को अपनाया, बल्कि दो शताब्दियों के दौरान इसके विकास में उल्लेखनीय योगदान भी दिया। उन्होंने भारतीय ज्ञान और समृद्धि की कहानियाँ सीमाओं के पार मध्य एशियाई स्टेपीज की बर्बर जन तक पहुँचाईं। उनमें से सीथियन सबसे लोकप्रिय खानाबदोश जनजातियों में से एक थे, जो बौद्ध धर्म को स्टेपी क्षेत्र में ले गए और पहले चीनी सीमाओं के पास बस गए, लेकिन जल्द ही कुषाणों (चीनी में यू–चे) द्वारा इस क्षेत्र से बाहर निकाल दिए गए। इसके अलावा, मिलिंदपन्हा (या मेनेंडर के साथ प्रवचन) बौद्ध धर्म में मेनेंडर की गहरी लगाव की व्याख्या करता है। यहाँ ऐतिहासिक तथ्य है कि बौद्ध दार्शनिक नागसेन के साथ प्रवचन के बाद मिलिंदपन्हा ने तथागत का धर्म अपनाया। मिलिंदपन्हा की रचनाएँ पाली–चीनी दोनों भाषाओं में उपलब्ध हैं।' रोमिला थापत, कल्चरल पास्ट्स, एसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड, 2000, पी. 546।, तिब्बत के प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ द्वारा उद्धृत एक परंपरा के अनुसार, मेनेंडर का बौद्ध धर्म से संबंध मिलिंदपन्हा से स्वतंत्र है। वह तुखरस की भूमि में राजा मिनारा को संदर्भित करता है, जिसकी पहचान लासेन द्वारा मेनेंडर से की गई है।' बी.एन. पुरी, मध्य एशिया में बौद्ध धर्म, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक, 2000, पृष्ठ 92।, यह प्रदर्शित करने के लिए बहुत कम साक्ष्य हैं कि मेनेंडर को मलेक्ष माना जाता था और उनके साथ निम्नतर व्यवहार किया जाता था। यूनानी जनजातियों ने बौद्ध धर्म अपनाया और लंबे समय तक वे मध्य एशिया, चीन और सुदूर पूर्व राज्यों में भारतीय संस्कृति के महान नायक बने रहे। भारत के महानगरों को रेशम मार्ग से जोड़ने में यूनानियों ने खानाबदोश जनजातियों और व्यापारी वर्ग को सांस्कृतिक रूप से आत्मसात करने में भी मदद की।

भारत की पुरातन संस्कृति का चीन और सुदूर पूर्व तक प्रसार :– यू–चेस ने तुसारस में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। तोखारिस्तान यू–चेस की मातृभूमि थी जहां ईसा पूर्व पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म पहुंचा था। चीन में बौद्ध संस्कृति का पहला आगमन तोखारिस्तान से हुआ था। इस खानाबदोश समूह की 'कुषाण' नाम की एक शाखा ईसा पूर्व पहली शताब्दी में सत्ता में आई और सबसे शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की, जो पूर्व में ऑक्सस नदी से लेकर बनारस तक फैला हुआ था। इसमें संपूर्ण उत्तरी भारत, अफगानिस्तान और खोतान शामिल थे। उन्होंने ईरानी और ग्रीस–रोमन संस्कृति को स्वीकार कर लिया, लेकिन भारत

की विजय के बाद, और बौद्ध राजा कनिष्क के महान उपलब्धियों के बाद भारतीय संस्कृति के संरक्षक बन गए। महान कुषाण राजाओं ने स्वर्ग के पुत्र (देव पुत्र) और महाराजा (राजाओं का राजा) जैसी भारतीय उपाधि भी धारण की थी। उन्होंने खोतान तक साम्राज्य विस्तार की थी। यह भी उल्लेखित किया गया है कि कश्मीर और उत्तर–पश्चिमी भारत के उपनिवेशवादी उसी अवधि में खोतान और काशगर के क्षेत्रों में आगे बढ़े होंगे और उन राजाओं द्वारा शासित छोटे उपनिवेश स्थापित किए होंगे जो भारतीय शाही परिवारों के वंशज होने का दावा करते थे। एक बौद्ध परंपरा में उल्लेख है कि जब बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु को कोसल के राजा ने नष्ट कर दिया, तो शाक्य परिवार के चार राजकुमारों को हमले का विरोध करने के कारण अपना देश छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा था। उनमें से एक मध्य एशिया में बस गया थे जहाँ लोगों ने उन्हें राजा के रूप में स्वीकार कर लिया था।' प्रबोध चन्द्र बागची, भारत और चीन, बम्बई, हिन्द किताब लिमिटेड, 1950, पृ. 9., जुआन जैंग के अनुसार, सातवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य में, उन्होंने मध्य एशिया में शाक्य परिवार के एक वंशज को सिंहासन पर देखा था। तोखारियन, पार्थियन और सोग्डियन लोग बौद्ध धर्म के साथ भारतीय संस्कृति के तत्वों को तुर्किस्तान और चीन के विभिन्न राज्यों में ले गए थे। यह ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं कि तोखारिस्तान में जन्मे प्रसिद्ध विद्वान घोसाक ने पुरुषपुर में चौथी बौद्ध परिषद में प्रमुख भूमिका निभाई थी। उन्होंने अभिधर्मविभास पर भाष्य लिखा जो वहां संकलित किया गया था। बाद में विद्वान घोसाक तुर्किस्तान लौट आए और वैभासिका स्कूल से जुड़ गए। यहां तक कि धर्ममित्र नाम के एक स्थानीय भिक्षु ने कानून की किताब का तोखेरियन भाषा में अनुवाद भी किया था। चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में तोखारिया बौद्ध भिक्षुओं का योगदान सुसंगत और उल्लेखनीय था। चीनी साहित्य इन भिक्षुओं को उनके नाम के आगे विश्व चे (सामने यूह–चे) जोड़कर अलग करता है।

ऐसा कहा जाता है कि 68 ई. में चीन गए पहले दो मिशनरियों, काश्युप मतंगा और धर्मरक्ष का यू–चे देश में चीनी राजदूतों ने स्वागत किया था। इनका आगमन हान राजवंश के सम्राट मिंग–दी के काल में हुआ। 65 ई. में, उनके पास एक दल था जिसमें उन्होंने एक सुनहरी छवि देखी, और जब उन्हें पता चला कि यह बौद्ध दार्शनिक थे, तो उन्होंने बौद्ध शिक्षकों को बुलाया। दोनों शिक्षक अपने साथ पवित्र ग्रंथों और अवशेषों से लदा एक सफेद घोड़ा लेकर आए। सम्राट की आज्ञा से चीन की राजधानी में उनके लिए 'व्हाइट हॉर्स मठ' बनाया गया था। दोनों भिक्षुओं ने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने और बौद्ध धर्म का प्रचार करने में बिताया। हालाँकि कई अनुवादों का श्रेय उन्हें दिया जाता है। बयालीसवें खंड का सूत्र सबसे महत्वपूर्ण में से एक है। एक अन्य चीनी संस्करण के अनुसार, जो अब 'विद्वानों द्वारा स्थापित किया गया है, वर्ष 2 ईसा पूर्व में, यू–चे शासकों ने चीनी सम्राट को बौद्ध ग्रंथ प्रस्तुत किए थे।' एस. राधाकृष्णन, भारत और चीन, मद्रास, 1954, पृष्ठ 34–35।, एक अन्य वृत्तांत हमें

बताता है कि बौद्ध धर्म पहले से ही 317 ईसा पूर्व में जाना जाता था जब एक विदेशी जादूगर एक छड़ी और भीख का कटोरा लेकर येन के राजकुमार झाओ के दरबार में आया और अपनी उंगलियों पर तीन फीट ऊंचा एक स्तूप बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म की शुरूआत से संबंधित ये सभी विवरण या तो पौराणिक हैं या बौद्ध विद्वानों के धार्मिक उत्साह के कारण हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि तोखारियों ने बाद की शताब्दियों में चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में लगातार और स्थिर भूमिका निभाई है। तुखारा मूल के एक बौद्ध भिक्षु लोकसेमा 147 ई. में लुयांग गए और बौद्ध सिद्धांत के कुछ सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनके शिष्य, चे–कियोन, जो तुखारा मूल के थे, उत्तरी चीन में सक्रिय थे, लेकिन राजनीतिक परेशानियों के कारण उन्हें उत्तरी चीन छोड़ना पड़ा और बाद में नानजिंग में बस गए जहां उन्होंने तीसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य तक काम किया। उन्होंने सौ से अधिक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया। इसके अलावा, धर्मरुक्सा (चीनी में फा–ना) नामक एक और बौद्ध भिक्षु का जन्म तुखारा परिवार में हुआ था। उन्होंने मध्य एशिया, मंगोलिया की यात्रा की और अंततः चौथी शताब्दी ईस्वी में चीन में बस गए। उन्होंने लगभग दो सौ पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिनमें से 90 आज भी विद्यमान हैं। अन्य प्रमुख भिक्षु जो चीन गए और बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया वे क्रमशः शी–लुन और धर्मनंदी थे। इस प्रकार, तोखेरियन ने न केवल बौद्ध धर्म को चीन में प्रसारित किया बल्कि इसे पार्थिया में भी पेश किया। एक प्रख्यात विद्वान प्रो. पी.सी. बागची बताते हैं कि पार्थियनों ने बौद्ध धर्म में वास्तविक रुचि कुषाणों के अधीन तोखारेस्तान में इसकी स्थापना के बाद ही दिखाई थी। (प्रबोध चन्द्र बागची, भारत और चीन, बम्बई, हिन्द किताब लिमिटेड, 1950, पृ. 30.)

दूसरी शताब्दी के मध्य में, एक पार्थियन राजकुमार, जो बौद्ध धर्म में धर्मान्तरित हो गया थे, पवित्र बौद्ध ग्रंथों के संग्रह के साथ चीन की पश्चिमी सीमा पर कार्यरत थे। उनका नाम नगन शी–काओ था, जो शाही वंश का राजकुमार थे, संभवतः पतन के कगार पर रहे अर्सासिडन परिवार के सदस्य थे । उन्होंने चीन के व्हाइट हॉर्स मठ में बड़ी संख्या में बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। हालाँकि बौद्ध ग्रंथों के पुराने पार्थियन अनुवादों का कोई साक्ष्य नहीं है, चीनी ऐतिहासिक स्त्रोतों में कई ईरानी बौद्ध विद्वानों का उल्लेख है जो दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी में चीन गए थे और बौद्ध ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद में सहयोग किया था। एक पार्थियन भिक्षु, अंशिह–काओ, जिन्होंने दूसरी शताब्दी ईस्वी में चीन का दौरा किया था, ने ग्रंथों के अनुवाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अलावा, चीन में "शुद्ध भूमि (Pure Land) महायान बौद्ध धर्म की एक शाखा है जो शुद्ध भूमि में पुनर्जन्म प्राप्त करने पर केंद्रित है। यह पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म की प्रचलित परंपराओं में से एक है। सबसे शुद्ध भूमि अमिताभ की है, जिसे सुखवती, 'आनंद की भूमि' कहा जाता है, तिब्बती बौद्ध धर्म में, अनुयायी अन्य शुद्ध भूमियों जैसे रत्नसंभव की भी आकांक्षा कर सकते हैं । पूर्वी एशियाई में शुद्ध भूमि

परंपरा प्रचलित रही और इसका कारण यह है कि इसने गैर–कुलीन लोगों को यह संभावना दिया कि समर्पण और प्रतिबद्धता से बुद्धत्व प्राप्त कि जा सकती है और बुद्ध अमिताभ की शुद्ध भूमि में पुनर्जन्म संभव है।," सूत्र को पेश करने और आगे अनुवाद करने वाले पहले भिक्षु एन शी–काओ थे, केनेथ के.एस. चेन, चीन में बौद्ध धर्म, एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, न्यू जर्सी, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964, पृ. 16., उनके बाद मध्य एशिया के अन्य भिक्षुओं ने भी काम किया। पार्थियन राजकुमार नगम शी–काओ के अलावा, नगन–ह्यूआन नामक एक व्यापारी भी थे। 9वीं से 10वीं शताब्दी ईस्वी तक उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि पार्थियन महाधर्मरक्षित ने सीलोन में दत्तगामिनी के समय के महान समारोहों में भाग लिया था, यदिप इसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है ।

इन असंख्य खानाबदोश जनजातियों में से, सोग्डियन, जिनका प्रभुत्व समरकंद से उत्तरी तोखारेस्तान तक फैला हुआ था। जुआन जांग के अनुसार, वे प्रारंभिक मध्ययुगीन काल तक उद्यमशील व्यापारी थे, जिन्होंने मध्य एशिया और उत्तरी चीन के विभिन्न हिस्सों में अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। मेहनती व्यापारियों के रूप में, उन्होंने मध्य एशिया के रेशम मार्ग (सिल्क रूट) के किनारे कई उपनिवेश स्थापित किए। चीनी साहित्यिक स्रोतों के अनुसार, चीन के दुन–हुआंग, लियांग–झोफू, चांग–आन और लुयांग दूसरी से 9वीं शताब्दी ईस्वी तक उनके गढ़ थे। वे बौद्ध धर्म और बौद्ध संस्कृति से जुड़े थे। सोग्डियन भिक्षुओं ने भी बौद्ध संस्कृति के प्रसारण में योगदान दिया। और उत्तरी चीन और भीतरी मंगोलिया में धार्मिक विचार। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध सोग्डियन सेंग हुई, जो युवावस्था में भिक्षु बन गए, जो नानजिंग में बस गए जहां उन्होंने एक मठ बनाया और एक बौद्ध विद्यालय की स्थापना की। सभी आजीविका में, वह दक्षिणी चीन में बौद्ध धर्म की शुरुआत करने वाले पहले व्यक्ति थे। खान–कू (कम्बो) के प्रधान मंत्री का सबसे बड़ा पुत्र नांगियो तीसरी शताब्दी ईस्वी में वू राज्य में आया था, जहाँ उसने कीन–कु–श मठ का निर्माण किया था और अपना अनुवाद कार्य शुरू किया था, जो लगभग तीस वर्षों तक जारी रहा। उसकी मृत्यु तक ।

सोग्डियन, अन्य खानाबदोश जनजातियों की तरह, न केवल उत्तरी चीन में बल्कि तुर्किस्तान और मध्य मंगोलिया में भी बौद्ध वाहन के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। बुगुट शिलालेख, दिनांक 580 ईस्वी, 1956 में मध्य मंगोलिया में खोजा गया और 1972 बी. गरीब, सोग्डियन डिक्शनरी, सोग्डियन–फारसी – अंग्रेजी, तेहरान, फरहानगन प्रकाशन, 1995, पृ. viii., में प्रकाशित हुआ, इस क्षेत्र में उनकी व्यस्त सांस्कृतिक गतिविधियों की पुष्टि करता है। इस सोग्डियन प्रवासन के पीछे व्यावसायिक हित भी एक प्रमुख प्रोत्साहन था। सोग्डियन चीन, मध्य एशिया, तुर्किस्तान, मंगोलिया और ट्रान्सोक्सियाना के बीच रेशम व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका निभा रहे थे। हालाँकि उन्होंने राजनीतिक सत्ता को अस्वीकार कर दिया था, फिर भी उन्होंने तुर्की के प्रभुत्व के तहत कुछ समय तक राजनीतिक सत्ता का आनंद लिया था। अधिक दिलचस्प

बात यह है कि सोग्डियन ने इस राजनीतिक प्रतिष्ठा का उपयोग मुख्य रूप से अपने व्यावसायिक हितों को आगे बढ़ाने के लिए किया था। इसी संदर्भ में समरकंद के पूर्वी द्वार को चीनी द्वार कहा जाता था। पूर्वोक्त, पृ.–vi., यह प्रशंसनीय है कि सोग्डियन भिक्षुओं के अलावा, व्यापारी भी व्यापारिक नेटवर्क के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के तत्वों को ले जा रहे थे, और बौद्ध धर्म से प्रभावित क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए बौद्ध धर्म को एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते थे।

निष्कर्ष – अपनी पहचान तलाश रही खानाबदोश जनजातियों ने बौद्ध धर्म के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इंडो–ग्रीक, शक, यू–चेस, पार्थियन तुर्किक, सोग्डियन और मंगोलियाई अपनी स्वदेशी जड़ों को त्याग रहे थे और विभिन्न हिस्सों में अपनी राजनीतिक और सांस्कृतिक जगह बनाने के लिए कड़ी मेहनत कर रहे थे। यह अफगानिस्तान, बैक्ट्रिया और पार्थिया सहित पश्चिमी क्षेत्र में भिन्न संस्कृतियों और विभिन्न जनजातीय राजनीतिक प्रणालियों के बीच एक मुठभेड़ थी; रूसी तुर्किस्तान और पूर्वी सहित मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान, तिब्बत और मंगोलिया के उत्तरी और दक्षिणी दोनों हिस्सों को समाहित करता है। यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस स्वदेशी सांस्कृतिक शून्यता को बौद्ध धर्म ने पर्याप्त रूप से भरा था। इस संदर्भ में, बौद्ध धर्म ने विविध जातीय संस्कृतियों और राजनीतिक इकाइयों के बीच एक अंतर–मध्यस्थ भूमिका निभाई। इसके अलावा, बौद्ध धर्म किसी शासक द्वारा अपने लोगों पर नहीं थोपा गया था, हालांकि उन्होंने बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया था। इसे स्वदेशी संस्कृति और धर्म को समाहित करते हुए बौद्ध धर्म की एक व्यापक रूपरेखा प्रदान करने के लिए समय की आवश्यकताओं द्वारा शासित किया गया था। मध्य और पूर्वी एशिया में कोई संगठित धर्म नहीं था। इसके अलावा, इन स्वायत्त धार्मिक परंपराओं का आधार कमजोर था। इस स्थिति में, बौद्ध धर्म ने विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी राजनीतिक संरचनाएँ खड़ी करने के लिए एक मजबूत–समूह प्रदान किया था। जातीय समूहों ने बौद्ध संस्कृति को उसके उदार और लोकप्रिय सिद्धांत के कारण अपनाया था, जिसकी पहचान मध्यम मार्ग, (मज्जिमापतिपद) के सिद्धांत थे।

सन्दर्भ : पुरी, बी.एन., मध्य एशिया में बौद्ध धर्म, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक, 2000। गरीब, बी., सोग्डियन डिक्शनरी, तेहरान, सोग्डियन–फारसी – अंग्रेजी, फरांगन प्रकाशन, 1995। चोए, होंगक्यूआ। ए., पारंपरिक कोरिया एक सांस्कृतिक इतिहास, सियोलः होलीम, 1997। शर्मा, आर.एस., प्राचीन भारत में भौतिक संस्कृति और सामाजिक संरचनाएँ, दिल्लीः मनोहर, 1997। थापर, रोमिला, वंशावली से राज्य तक – पहली सहस्राब्दी के मध्य में सामाजिक गठन, गंगा घाटी में ईसा पूर्व, दिल्लीरू ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984। बागची, प्रबोध चंद्र, भारत और चीन, बॉम्बे : हिंद किताब लिमिटेड, 1950। राधाकृष्णन, एस., भारत और चीन, मद्रास, 1954।

■

भारत की प्रारंभिक
चिकित्सा शिक्षा का स्वरूप

अरुण कुमार ❖

भारत में प्राचीन काल से ही चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन और अभ्यास होता चला आ रहा है। वैदिक संहिताएँ चिकित्सा विज्ञान की नींव के भांति कार्य करती रही हैं। वैदिक साहित्यों से हमें अनेक चिकित्सकों एवं औषधियों के संदर्भ में ज्ञान प्राप्त होता है। प्रारंभ में पुजारियों ने चिकित्सकों के रूप में चिकित्सा कार्य कि शुरुआत की थी, लेकिन एक बार जब चिकित्सा विज्ञान ज्ञान का एक संपूर्ण क्षेत्र बन गया, तो चिकित्सकों को समाज में एक विशिष्ट वर्ग के रूप में देखा जाने लगा।

कालान्तर में इसमें आठ विशिष्ट आयुर्वेदिक चिकित्सा श्रेणियों को शामिल किये जाने का प्रमाण मिलताहै। वे है –सत्य (प्रमुख शल्य चिकित्सा), सालक्य (छोटी शल्य चिकित्सा), भूत विद्या (राक्षस विद्या), कायाचिकित्सा (शरीर के रोगों का उपचार), और कुमारभृत्य (बच्चों के रोगों का उपचार), अगद–तंत्र(टेक्सिकोलॉजी), रसायन (अमृत) और वाजिकारेण (कामोत्तेजक) संस्कृत, प्राकृत और पाली साहित्य में चिकित्सकों और औषधियों के कई दुर्लभ संदर्भ प्राप्त होते हैं ।

साहित्य समीक्षा : चिकित्सा विज्ञान को संदर्भित करने वाले साक्ष्य पाली साहित्यों में भी मिलते हैं, विशेषकर विनयपिटक के (महावग्ग के भेषज खंद्क) में मिलता है। जातकों में उल्लिखित है कि मौर्य काल से पहले, चिकित्सा विज्ञान बहुत उन्नत अवस्था में था। भेषज और चिकित्सक, जो विरासत से चिकित्सा का कार्य करते थे। विशेषज्ञता के कारण कुछ चिकित्सकों को शाही चिकित्सक (राजवैध) का नाम दिया गया था। यही कारण है कि प्राचीन विदेह भी चिकित्सा के क्षेत्र के एक बडे केंद्र के रूप में प्रसिद्ध था। 'उत्तरातंत्र' में विदेह के राजा को सालक्य तंत्र का ज्ञाता के रूप में वर्णन करते हुए दिखाया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य, विशलेषण व सिद्धांत : चिकित्सक समाज का एक अत्यधिक सम्मानित सदस्य होता था, वहीँ वैद्यों द्वारा स्वास्थ्य–देखभाल का कार्य किया जाता था, इसलिये जाति पदानुक्रम में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त था। चिकित्सा–अध्याय में व्यावहारिक आचरण के नियम जो दिये गये है, वो हमें हिप्पोक्रेट्स को याद करने पर मजबूर कर देते है, जो किसी भी समय के

❖ संपर्क : शोधार्थी, ऐतिहासिक अध्ययन और पुरातत्व विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया, बिहार /ईमेलः arunkumarmonto1@gmail.com, 7011766176.

कर्तव्यनिष्ठ चिकित्सक के लिए महत्वपूर्ण होता था । यहाँ विशेषकर उपदेश के एक भाग को उद्धृत किया जा रहा है कि 'चरक एक चिकित्सक को एक धार्मिक समारोह के समय अपने छात्रों को उपदेश देने का निर्देश देते हैं, जब छात्रों द्वारा अपना प्रशिक्षण पूरा कर लिया जाता हैं तब उनकों इस धार्मिक समारोह में व्याख्यान सुनने के लिये आमंत्रित किया जाता है।

यदि आप अपने अभ्यास में सफलता, धन, प्रसिद्धि और अपनी मृत्यु के बाद स्वर्ग चाहते हैं, तो आपको प्रत्येक प्रातः उठते और प्रत्येक बिस्तर पर जाते समय सभी प्राणियों, विशेषकर गायों और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, साथ ही पूरे मन से बीमारों के उचित स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करना चाहिए। अपने मरीजों के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिए, भले ही इसके लिए आपको अपनी जान ही क्यों ना देनी पड़े। किसी भी व्यक्ति को मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए, गलत कार्य नहीं करने चाहिए, या बुरे संगत नहीं रखने चाहिए। व्यक्तियों को प्राय; अच्छा बोलना चाहिए और स्थिर रहना चाहिए, और आपको हमेशा अपने ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि चिकित्सक मुख्य रूप से ब्राह्मण जाति से प्रायः आते थे, लेकिन हमें इस श्रम को अपनाने वाले आम लोगों के भी संदर्भ प्राप्त होते है। 'जब आप किसी मरीज के घर जाते हैं, तो आपको अपने शब्दों, मन, बुद्धि और इंद्रियों को अपने मरीज और उसके उपचार पर केंद्रित करना चाहिए। बीमार व्यक्ति के घर में जो कुछ भी होता है उसे बाहर नहीं बताया जाना चाहिए। मरीज की स्थिति के बारे में ऐसे व्यक्ति को बताया जाना चाहिए, जो उस ज्ञान से मरीज को या किसी अन्य को नुकसान नहीं पहुंचा सकता है।'

पाली साहित्यों से राजा बिम्बिसार के महान चिकित्सक जीवक के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है, जो एक वेश्या सालावती से पैदा हुये थे। बिम्बिसार ने जीवक को पीलिया से पीड़ित अवंती के राजा प्रद्योत के इलाज के लिए भेजा था, क्योंकि वह तत्कालीन समय के बहुत ही प्रसिद्ध वैध थे। उन्होंने लोगों के उपचार के लिए एक अस्पताल भी बनवाया था। जीवक उस समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध चिकित्सक थे। पुरातन भारतीय चिकित्सा और आसव (दस्त), तापमान (बुखार), जलोदरा (ड्रॉप्सी), कुष्ठ–रोग, सिरदर्द, पेचिश, पीलिया, दमा, सर्पदंश, चेचक आदि रोग एवं उनके उपचार की चर्चा अथर्ववेद और जातकों में भी मिलता है। सुश्रुत संहिता में ग्यारह सौ से अधिक बीमारियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें छब्बीस प्रकार का बुखार, आठ प्रकार का पीलिया और बीस प्रकार की मूत्र संबंधी समस्याएं शामिल हैं। तत्कालीन समय में चेचक का होना एक आम धारणा सा हो गया था। ऐसा माना जाता था कि यह बीमारी शीतला देवी के प्रकोप के कारण होता है, और इसका उपचार शीतला देवी की पूजा करने एवम् उन्हें प्रसन्न रखने से ठीक हो जाता है। ज्ञात होता है कि इसके उपचार हेतु टीका को एक तर्कसंगत उपचार के विकल्प के रूप में देखा जाता था। वही गर्भवती महिलाओं के भ्रूणों की असामान्य स्थिति होने पर टीका–प्रक्रिया को एक विकल्प के रूप में देखा जाता

था, जो सबसे खतरनाक और सबसे कठिन इलाज होता था।लगभग आठ सौ ईसा पूर्व, से तर्कसंगत चिकित्सा की शुरुआत माना जाता है। भारतीय चिकित्सा का स्वर्ण युग एक हजार ई0 तक गतिशील रहा, क्योंकि इस काल में, तक्षशिला और काशी जैसे शैक्षणिक संस्थानों में चिकित्सा अध्ययन का एक सामान्य विषय होता था।

काशी के चिकित्सा विद्यालय, जो कि शल्य–चिकित्सा में विशेषज्ञता रखते थे, और सुश्रुत संहिता, जो कि इनकी शिक्षाओं का एक संग्रह था, चौथी शताब्दी में संकलित किया गया था। वाग्भट्ट ने आठवीं शताब्दी ईस्वी में चिकित्सा के सिद्धांतों पर दो पुस्तकें लिखीं, – और तक्षशिला में आत्रेय की शिक्षाओं को उनके शिष्य अग्निवेश ने पहली शताब्दी ईस्वी में संकलित किया था। चरक के सुश्रुत–संहिता का तिब्बती और अन्य एशियाई भाषाओं में अनुवाद किया गया था। जिसके कारण यह पुस्तक मंचूरिया तक लोकप्रिय हो गया था ।

मध्य–युग के दौरान यूरोपीय चिकित्सा पद्धति आठवीं शताब्दी ईस्वी के कर्क और सुश्रुत संहिता के अरबी अनुवादों से प्रभावित था। चरक संहिता का अरबी संस्करण पहली बार पन्द्रह सौ पचास ई0 में प्रकाशित हुआ था। इस समय तक शरीर–रचना और शरीर–क्रिया विज्ञान का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। फेफड़े जैसे आंतरिक अंगों और मस्तिष्क की कार्यप्रणाली कैसे कार्य करती है? इसकी पर्याप्त समझ तत्कालीन वैद्यों और विद्वानों को नहीं था। शल्य चिकित्सक तीरों को निकालने, अंगों को काटने और उन अंगों को कृत्रिम अंगों में बदलने के लिए सेनाओं के साथ युद्ध के मैदानों में जाते थे।

जब सुश्रुत–संहिता को प्रथम बार संकलित किया गया था, तो उसे एकीकृत चिकित्सा में शामिल किया गया था। सुश्रुत ने इसे "उपचार– कला का उच्चतम प्रभाग और भ्रम के प्रति सबसे कम उत्तरदायी के रूप में व्याख्या किया था। पहली शताब्दी ईस्वी में आमतौर पर उपयोग कि जाने वाले विशेष शल्य–चिकित्सा उपकरणों में तीस जांच, या सलाका के पद्धतियों का एवं बीस प्रकार के चाकू और सुइयों के उपयोग को शामिल किया गया था। छब्बीस ट्यूबलर उपकरण और प्रशिक्षण के छब्बीस लेख (उपयंत्र) चिकित्सा के शिक्षा में प्रारंभिक भारतीय काल के दौरान सर्जरी में महत्वपूर्ण प्रगति को दर्शाते हैं और उपचार हेतु आहार संबंधी और औषधीय संबंधी दोनों के पद्धतियों का उल्लेख करते है। जिसमें पहले वालें पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। इसके अतिरिक्त शल्यक्रिया के संदर्भ का भी उल्लेख मिलता हैं, जिसमें हड्डियों का आपस में मिलान, नासूरका उपचार और मूत्राशय से पथरी निकालने के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाता था। वर्तमान में प्लास्टिक सर्जरी उस समय कि सीमा से आज बहुत विकसित अवस्था में पहुँच चूका है, जिसमे प्राचीन सर्जन होंठ, कान या अन्य शरीर के अंगों को प्लास्टिक सर्जरी से सुधारने के कार्य में कुशल थे। जो युद्ध में या अदालत के आदेश से खो गये या घायल हुये व्यक्तियों के अंगों का उपचार करते थे ।

'यूरोपीय लोगों के विचार में भारतीय सर्जरी की श्रेष्ठता और उन्नति' एक उल्लेखनीय बिंदु है, जिस पर ए.एल. बाशम उचित रूप से बल देते हैं। हालाँकि, कई प्राचीन चिकित्सा विशेषज्ञ मस्तिष्क, रीढ़ की हड्डी और फेफड़ों के उपचार में भी कमियों का उल्लेख करते है। तत्कालीन समय में मनुष्यों के उपचार के साथ–साथ, पशुओं के उपचार का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणतरू हाथी–भेषज, जो हाथियों का चिकित्सक होता था। अहिंसावादी विचारधारा के अनुसार बीमार और बुजुर्ग जानवरों के लिए पशु–शालायों के निर्माण को प्रोत्साहित किया जाता था। भारत के कई शहरों में अभी भी ये दान संस्थाएं संचालित हैं।

घोड़े और हाथी का चिकित्सक होना, एक अत्यधिक कुशल और सम्मानित रोजगारपरक पद माना जाता था। जिसकी अदालत में अत्यधिक मांग थी, क्योंकि अदालत में दंड मिलने पर ये चिकित्सक ही उनका उपचार करते थे, क्योंकि 'पशु–चिकित्सा विज्ञान का अध्याय' प्राचीन काल से ही अध्ययन के विषय के रूप में प्रचलित अवस्था में था। परम्परागत भारतीय चिकित्सा प्रणाली तीन महत्वपूर्ण सिद्धांतों पर कार्य करता था। यथा – वायु, पित्त, और कफ। इन विषयों का सही अनुपात होने से एक स्वस्थ शरीर का निर्माण होता था । इस प्रकार की विचारधारा को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। किसी व्यक्ति का चरित्र और स्वभाव, साथ ही उसके जिन बीमारियों से प्रभावित होने की संभावना रहती थी, वे शरीर में इनके अनुपात को निर्धारित करते थे। इस प्रकार, कफ, ठंडा और भारी होता था, जो छाती और फेफड़ों से सम्बन्धित होता था। चंद्रमा क्योंकि हास्य जीवन–ऊर्जा के रूप थे और शरीर के बाहर स्थूल जगत में दिव्य शक्तियों या एजेंटों के अनुरूप होते थे। भारतीय सन्दर्भ में पवन सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व होता था, क्योंकि यह शरीर की गतिशीलता को नियंत्रित करता था। चूंकि ग्रीक वनस्पतिशास्त्री थियोफ्रेस्टस ने अपने 'पौधों का इतिहास' में भारतीय पौधों और जड़ी–बूटियों के औषधीय उपयोग का वर्णन किया है, इसलिए भारतीय ज्ञान पश्चिमी दुनिया तक पहुंच पाया। शरीर में तीन प्राथमिक पदार्थों के अतिरिक्त, सात माध्यमिक पदार्थ भी होते थे। यथा– रक्त, मांस, वसा, अस्थि मज्जा और वीर्य। रोग पित्त से रक्त में, रक्त से मांस में बढ़ता है, और जब यह पहले तीन या चार अंगों को प्रभावित कर देता था, तब वह रोग लाइलाज हो जाता था। यही कारण है कि इसे पहले ही परीक्षण के रूप में देखना चाहिए और स्वास्थ्य के लिये उपयुक्त बनाना चाहिए। इस प्रकार से शरीर क्रिया विज्ञान चिकित्सा के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दे सकती है।

चिकित्सा में धार्मिक मूल्य का योगदान रू धर्म में कुछ ऐसी प्रथाओं को शामिल किया था। जो प्रच्छन्न रूप से स्वच्छता से नियमानुसार सम्बन्धित थे। स्वास्थ्य जीवन हेतु व्यक्तियों को दो बार भोजन दिये जाने का प्रावधान रखा गया था। साथ ही आहार कि गुणवत्ता, समयानुसार और पानी पीने की विधियों का उपयुक्त मात्रा में पालन किये जाने के सन्दर्भ में निर्देश दिये गये थे। स्वस्थ्य रहने हेतु प्रतिदिन स्नान आवश्यक था। शरीर को नमी प्रदान करने के लिए तेल का

इस्तेमाल करने, दांतों को साफ करने और आंखों को निरंतर स्वच्छ रखने की सलाह दी जाती थी। नागरिकों को सख्ती से उपवास करने और अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करने का भी सुझाव दिया जाता था। प्राचीन भारत का औषधीय–संस्कार ग्रन्थ अर्थात् फार्माकोपिया का अत्यधिक प्रसार था। साथ ही इसमें पशु–मांस, सब्जियां और खनिज उत्पादों को भी शामिल किया जाता था। कई एशियाई औषधियाँ विशेष रूप से तेल, कुनैन के पेड़ के छाल से, चौलमुगरा के पेड़ से छाले निकाले जाते थे। इसका ज्ञान बहुत पहले से था, जिसका उपयोग कुष्ठ रोग के उपचार के लिये होता था।

औषधीय–सामग्री : सुश्रुत ने सात सौ साठ से भी अधिक पौधों का वर्णन किया है, जिनमें पौधों के सभी भागों से यथा– जड़, छाल, रस, राल, फल,फूल आदि को सम्मिलित कर औषधि तैयार किया जाता हैं। आज भी लोगों के द्वारा दालचीनी, तिल, मिर्च, इलायची, अदरक, लहसुन आदि का उपयोग घरेलू उपचार के रूप में किया जाता हैं ।

कार्बनिक भाग : टिन, लोहा, तांबा, चांदी, सोना और पारा के ऑक्साइड, क्लोराइड और सल्फेट्स आठवीं शताब्दी से प्रयोग में सम्मिलित किये जाते थे। इसके साथ ही आर्सेनिक, सल्फर, पोटाश, सामान्य नमक, फिटकरी और अमोनिया भी कार्बनिक पदार्थ के रूप में ही गिने जाते थे। कुछ का उपयोग उत्तेजक और कायाकल्पक के रूप में किया जाता था।नेफ्रैटिस के रोगियों को वसायुक्त और मांसल भोजन दिया जाता था, और तपेदिक के रोगियों को नमक रहित आहार दिया जाता था। रोगों का निदान इंद्रियों पर आधारित था।

ऐसा माना जाता था कि राक्षस–प्रवृति का विकास केवल मानसिक रोगों के कारण व्यक्ति में हो जाता था, इसके साथ ही कान, नाक, आँख और फेफड़ों की परेशानी प्रकृति और उसकीं गंभीरता को पहचानने में मदद करते थे। लेकिन प्रार्थनाओं और जादू के प्रभाव ने दवा को पूरी तरह से नहीं छोड़ा था। हालाँकि, वरुण की प्रार्थना करने वाले व्यक्ति में जलोदर का निदान और उपचार वैदिक काल से कहीं अधिक उचित और बहुत आगे था ।

भारत में प्राचीन चिकित्सा संस्थाएँ : प्रारंभिक भारतीय शहरी जीवन ने शैक्षणिक संस्थानों का निर्माण किया, जो महानगरीय शहरों में उच्च उभरते केंद्रों की विशेषता थे –

तक्षशिला : तक्षशिला रावलपिंडी, जो आधुनिक शहर रावलपिंडी से मात्र बीस मील उत्तर–पश्चिम में है। प्राचीन भारत में एक प्रसिद्ध शैक्षिक केंद्र था। यहाँ शिक्षा के लिये प्रवेश पाना बहुत ही दुरूहपूर्ण कार्य था। वेदों को पढ़ाने के अतिरिक्त, चिकित्सा जैसे विषयों पर विशेष जोर दिया जाता था। उपरोक्त प्रकार की शिक्षा के अतिरिक्त, यहाँ व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण की एक व्यवस्थित प्रणाली स्थापित की गई थी। जीवक के आजीविका की कहानी, पाली के साहित्यों में विहित कार्य के रूप में वर्णित है, जो बौद्ध धर्म के उदय के दौरान चिकित्सा – शिक्षा की स्थिति को दर्शाता है।

नालंदा में भी विक्रमशिला, वल्लभी और कांची के समान ही चिकित्सा–विज्ञान में भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त तिरुवोट्टियूर और तिरुमुक्कुडु के शिलालेख से भी मंदिर में एक शैक्षणिक संस्थान के स्थापना कि पुष्टि होती हैं। मंदिर से जुड़े अस्पताल का वर्णन भी प्राप्त होता है। मंदिरों के अलावा अग्रहार और घटिका भी चिकित्सा गतिविधियों के लिए महत्वपूर्ण स्थान होते थे। इसके अतिरिक्त, मौर्य और उत्तर–मौर्य काल के दौरान, पाटलिपुत्र में एक अच्छी तरह से विकसित चिकित्सा–तंत्र था जो बहुत ही नियोजित रूप से कार्य कर रहा था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र हैजा, प्लेग और इसी तरह की अन्य महामारियों और बीमारियों के संदर्भ में उल्लेख करता है। नागरिकों की मुख्य जिम्मेदारी शहरों में फैल रही महामारी को रोकना था।

इसी प्रकार से, यदि लापरवाही के परिणामस्वरूप किसी मरीज की मृत्यु हो जाती थी या मरीज का कोई अंग–भंग हो जाता था, तो अर्थशास्त्र हमें औषधीय जड़ी–बूटियों से बनी विभिन्न प्रकार की दवाओं और विभिन्न प्रकार के रोगों के लिए उनके उपयोग के बारे में सूचना और अन्य प्रशासनिक ज्ञान उपलब्ध कराता था। अर्थशास्त्र से हमे प्रारंभिक भारत में चिकित्सा शिक्षा के विकास और चिकित्सक के दोषपूर्णसंचालन के बारे में भी ज्ञान प्राप्त है। जब अतिथि बीमार पड़ते थे तो, डॉक्टरों द्वारा उनका सावधानीपूर्वक इलाज किया जाता था।

चंद्रगुप्त मौर्य के अधीन पाटलिपुत्र का दौरा करने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने इंडिका में बताया है कि 'विभिन्न प्रकार के जहरों के लक्षणों का पता लगाने के लिए विशेषज्ञ होते थे। प्रमुख शहरों में शक्तिशाली औषधियों के भण्डार (भैषजगृह) और राजा के निजी चिकित्सा भण्डार भी होते थे। अशोक के शिलालेख से यह भी संकेत मिलता है कि, मौर्य राज्य जन –कल्याण में बहुत रुचि रखता था और मनुष्य तथा पशु दोनों के कल्याण लिये उचित व्यवस्था करता था। उन्होंने औषधीय, और जड़ी–बूटियाँ के लिये बाग–बगीचों का निर्माण कराया था। इतना ही नही, अस्पतालों का निर्माण भी कराया गया, जो मनुष्यों और जानवरों के चिकित्सा के लिये उपयुक्त होता था, हमारे पास यह पता लगाने के लिए पर्याप्त जानकारी नहीं है कि प्राचीन बिहार में चिकित्सा विज्ञान और इसके व्यवसाय का विकास कैसे हुआ, लेकिन कुछ छिटपुट संदर्भों से ज्ञात होता है कि चिकित्सा विज्ञान मौर्य–काल और उसके बाद के साम्राज्यों में भी त्वरित गति से विकास करता ही गया। प्रसिद्ध बौद्ध–दार्शनिक नागार्जुन ने ईसाई युग की प्रारंभिक शताब्दियों में रसचिकित्सा प्रणाली का विकास किया। बिहार से भी इस संदर्भ जाना जा सकता हैं।

प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के अनुसार, चिकित्सा में लोहे और पारे का उपयोग यह दर्शाता है कि तत्कालीन समय में रसायन विज्ञान स्वास्थ्य के देखभाल का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया था। कालान्तर में बिहार का नालन्दा विश्वविद्यालय, रसायन विज्ञान का एक महत्वपूर्ण केन्द्र भी बन गया था। गुप्त काल के दौरान बिहार में लिखे गये किसी भी चिकित्सा ग्रंथ के बारे में हमें कोई

जानकारी नहीं है। इस समय का लिखा गया एकमात्र महत्वपूर्ण पुस्तक बागभट्ट का असंग–संग्रह है, लेकिन इसका श्रेय बिहार को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह पाठ हाथियों की बीमारियों और उनके इलाज के बारे में उल्लेख करता है।

इससे पता चलता है कि गुप्त काल के दौरान भी बिहार में चिकित्सा विज्ञान फल–फूल रहा था। इसके अतिरिक्त यह भी साक्ष्य मिलता है कि चीनी तीर्थयात्री फाह्यान द्वारा बिहार में एक अस्पताल की स्थापना का संकेत मिलता है, जिन्होंने चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के दौरान भारत कि यात्रा किया था। कहते हैं कि गुप्त शासको ने गरीब, निराश्रित और बीमार लोगों के लिए पाटलिपुत्र शहर के विभिन्न हिस्सों में दान–गृह और अस्पताल बनवाये थे। फाहियान का यह कथन कि अपंग और रोगग्रस्त लोगों को राज्य द्वारा मुफ्त भोजन और दवाएँ दी जाती थी । इससे यह इंगित होता है कि वहाँ मानव – अस्पताल रहे होंगे। बिहार के अन्य प्राचीन नगरों में पाटलिपुत्र के बारे में फाह्यान का कथन पुरातात्विक खोजों में भी समर्थित है। कुम्रहार की खुदाई से एक आरोग्य–विहार (अस्पताल) के अस्तित्व का पता चला है। श्री–आरोग्य–विहार, भिक्षु संघ, की खोज सीलिंग द्वारा की गई थी । पाटलिपुत्र बौद्ध मठ इस अस्पताल से ही जुडे हुये थे। कहा जाता है कि हर्ष ने गरीबों को निःशुल्क दवाएँ और भोजन उपलब्ध कराने के लिए अस्पताल और पुण्यशालाएँ बनवाई थीं ।पालों के आगमन के साथ ही नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय पूर्वी भारत के प्रमुख शैक्षणिक संस्थान बन गये थे। इन स्कूलों ने लोगों को चिकित्सा और धर्म दोनों में शिक्षा दी। तथ्य यह है कि चिकित्सक (वैद्य) पहली बार एक जाति के रूप में प्रकट होता है, यह दर्शाता है कि पालकाल के दौरान बिहार में चिकित्सा विज्ञान का व्यवसाय अच्छी तरह से विकसित अवस्था में था।

चिकित्सा पद्धति में होने के अतिरिक्त, उन्होंने लेखक के रूप में भी कार्य किया था। गया से प्राप्त एक शिलालेख में तीन वैद्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से एक लेखक, एक लिपिक और एक पशुचिकित्सक था।

निष्कर्ष : हालाँकि प्रारंभिक भारत में चिकित्सा का व्यवसाय और चिकित्सकों के संबंध में कुछ आँकडे उपलब्ध है। लेकिन ये आँकडे बताते हैं कि विज्ञान का यह क्षेत्र अच्छी तरह से विकसित था। दुर्भाग्य से, प्रारंभिक भारत में, इस विज्ञान के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया है। आशा है कि, इसके अतिरिक्त, विषय का अधिक गहन अध्ययन और अतिरिक्त जानकारी हमे विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त होगी, जो हमारे ज्ञान को व्यापक बनाएगी।

■

हिन्दी कहानियों में मानवाधिकार

ज्योति गौतम ❖

साहित्य शब्द से तात्पर्य सबका हित होता है। वह रचना, साहित्य की श्रेणी में नही आती जो सभी के हित की बात न करें। इस तरह हम साहित्य की किसी भी विधा चाहे वह कहानी हो, उपन्यास हो, नाटक हो या कोई अन्य विधा जैसे –रिपोर्ताज, यात्रा, वृतांत, इण्टरव्यू, रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, आत्मकथा, जीवनी, व्यंग्य आदि। सभी मे मानव अधिकार और कर्त्तव्यों का संजीव चित्रण प्रस्तुत करते है। हमारे अधिकार दूसरे के कर्त्तव्य है, यह बात बार–बार याद दिलाई जानी चाहिए। हरिशंकर परिसाई हमारे साहित्य में व्यंग्य विधा के जनक माने जाते है। इनकी सभी रचनाओं में व्यंग्य विधा के माध्यम से समाज में मौजूद भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारी दोनों को ही करारें ठंग से लताड़ा गया है इनकी कहानी ''भोलाराम का जीव'' में भोलाराम रिटायर्ड (नौकरी से) व्यक्ति है जो सम्पूर्ण जीवन सरकारी सेवा को पूरी ईमानदारी और निष्ठा के साथ अपने कृत्तव्यों का निर्वाहन करता रहा। लेकिन जब उसके अधिकार यानि पेंशन का समय आया तब सरकारी पेंशन ऑफिस के चक्कर लगाते–लगाते उसके घर के बर्तन, पत्नी के जेवर, सब कुछ बिक जाता है। अन्त मे भूखे रहते–रहते भोलाराम के शरीर से अन्तिम सांस भी छूट जाती है। लेकिन उसकी आत्मा (जीव) उन्हीं फाइलों की अर्जी में बैठा रहता है। सरकारी अफसर भोलाराम की अर्जियों पर वजन यानि पैसे या किसी कीमती सामान की इच्छा रखते थे। जिसे भोलाराम नही समझ पाया और सिर्फ सरकारी दफ्तरों के चक्कर अपनी पेंशन के लिये लगाता रहा। एक ऐसा व्यक्ति जो पूरी जिन्दगी पूरी ईमानदारी से अपने कत्तव्यों का निर्वाहन करता रहा वह वृद्धावस्था मे अपने अधिकारों के लिए लड़ता रहा। लेकिन अति उपयोगतावादी संस्कृति के चलते लोगों की ईमानदारी को लालच ने जकड़ लिया है। कि सरकारी पदों पर बैठे अधिकारी सरकार द्वारा प्रदान वेतन से संतुष्ट न होकर रिश्वत भोगी ज्यादा होते जा रहे है। जिसमे भोलाराम जैसे लोगो के हितों का हनन होता जा रहा है। मानव अधिकारों की यदि बात करे तो विमर्श की नींव भी उसी पर खड़ी है कई हक की लड़ाईयां चल रही है। जो सदियों से चली आ रही है। ''भोलाराम का जीव'' कहानी में वृद्ध जीवन की समस्या तो है। साथ ही एक अविवाहित बेटी, पत्नी के जीवन यापन की भी समस्या जुड़ी हुई है।

❖ संपर्क : असि0 प्रोफेसर (हिन्दी विभाग), डॉ0 शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रोटी, कपड़ा, मकान की मूलभूत समस्या या अधिकार, भ्रष्टाचार के कारण लोगों को नही मिल पा रहे है, प्रो0 चौबीराम यादव कहते है – ''जाति और लिंग भेद दोनों के माध्य से ही सामाजिक अन्याय होता है।''

हरिशंकर परसाई ने इस कहानी के माध्यम से बताया है किस तरह लोग दूसरो का अधिकार छीनते है और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते है। चित्र गुप्त ने कहा, महाराज आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज भेजते है और उसे रास्ते मे ही रेलवे वाले उड़ा लेते है। होजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे के डब्बे रास्ते मे कट जाते है, इसी समय कहीं से घुमते–घामते नारद मुनि यहाँ आ गए। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले, क्यों धर्मराज, कैसे चिंतित बैठे हैं? वन्या, नर्क में निवास स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?

धर्मराज ने कहा, समस्या तो कब की हल हो गई, मुनिवार! नर्क में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आ गए है। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनाई। बड़े–बड़े इंजीनियर भी आ गए हैं, जिन्होने ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होने उन मजदूरों की हाजिरी भर पैसा हड़पा जो कभी काम पर गए ही नहीं। इन्होने बहुत जल्दी नर्क में कई इमारतें तान दी हैं। इस तरह की कई अन्य समस्याएं जैसे इनकमटैक्स न भरने की समस्या, गरीब स्त्री के या पुरुष के चरित्र पर उगली उठाना, आदि पर भी कहानी में बात की गयी है, जब नारद मुनि भोलाराम की पत्नी से कहते है कि उसे क्या बीमारी थी वह बताती है कि 'गरीबी की बीमारी थी।' यह भी एक बीमारी है जो भ्रष्टाचार के कारण बढ़ती जा रही है, और अनेको मनुष्यों के अधिकारों का हनन हो रहा है।

भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' में वद्धावस्था और नगरों में रह रहे मध्यवर्गीय परिवारो में तेजी से उन्नति करने की लालसा, अवसर–वादिता, स्वार्थपूर्ति के लिए परिवारिक संबंधो की आत्मीयता को ताक पर रखने की प्रव त्तियां उजागर हुई है। इस कहानी मे यदि मानव अधिकार की बात की जाये तो वृद्धावस्था मे अपने परिवार के द्वारा अपने प्रति हो रहे दुर्व्यवहार और अधिकारों के बीच चल रहे अर्न्तद्वन्द की ओर ध्यान दिया गया है। एक बूढ़ी स्त्री जिसने अनावश्यक वस्तु की तरह इधर से उधर रखा जाता है यह मान लिया जाता है कि अब बूढ़ी मां लज्जा का कारण ही हो सकती है। भारतीय समाज में वृद्धों की स्थिति अधिकांश रूप से अच्छी नही पाई जाती है। उन्हें मान–सम्मान पूर्वक जीवन के अधिकार से वंचित रखा जात है। आधुनिकता की दौड़ ने बच्चों के पास इतना समय नही रहता है कि वह घर के बुजुर्गों से बात तक कर सके। इस कारण वृद्धों को अकेलेपन का सामना करना पड़ता है, जिसके चलते उनके तमाम अधिकार जैसे अपने सुख–दुख की बाते अपनी जरूरतों के विषय मे बताना या किसी तकलीफ के विषय मे बात करना, डॉक्टर को समय पर दिखाना कई अधिकार अधूरे ही रह जाते है।

इस कहानी में वृद्धावस्था में स्त्री की स्थिति को दर्शाया गया है। – ''शामनाथ सिगरेट मुंह मे रखे सिकुड़ी आंखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल–भर सोचते रहे, फिर सिर हिला कर बोले – 'नहीं, मैं नही चाहता कि उस बुढ़िया का आना–जाना यहाँ फिर से शुरू हो। पहले ही बड़ी मुश्किल से बंद किया था। मां से कहें कि जल्दी ही खाना खा के शाम को ही अपनी कोठरी मे चली जाएं। मेहमान कहीं आठ बजे आएंगे इससे पहले ही अपने काम से निबट लें।''

यह माँ का झमेला ही रहेगा, उन्होंने फिर अंग्रजी में अपनी स्त्री से कहा, कोई ठंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी सीधी बात हो गई, चीफ को बुरा लगा, तो सारा मजा जाता रहेगा।

कहानी में साफ स्पष्ट होता है कि व्यक्ति की सफलता के साथ–साथ परिवार में नैतिक वातावरण भी आवश्यक है परिवार के सभी सदस्यों के मूल अधिकारों की पूर्ति उनके मान–सम्मान की रक्षा भी जरूरी है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी ''कठपुंतलियां'' में भी महिलाओं को पुरुष प्रधान समाज में कठपुतलियों की तरह नचाया जाता है। यह परम्परा सदियों से चली आ रही हैं। नचाने से तात्पर्य पति, पुत्र, पिता का आदेश ही महिला के लिए सर्वोपरी हे। उसकी अपनी इच्छाओं का कोई मोल नही होता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ बताती है कि स्त्री किस प्रकार अपने अधिकारों को त्यागने के लिए विवश होती हैं। इस कहानी मे वह कहती है – ''कभी–कभी वह अपने हाथ–पैर देखती तो उसे लगता उनमे भी एक अदृश्य डोर बंधी है। उसे महसूस होता कि ये जो वक्त है ना, नौ से चार बजे का, वह दो प्रस्तुतियो के बीच परदा डाल के मंच के पीछे लटका दी गई कठपुतली के आराम का समय है अब होती है कुछ दीवानी कठपुतलियां, देह के साथ–साथ मन भी पसारने वाली।'' जबकी मन परसाने का अधिकार स्त्री को नही दिया जाता है। बेमेल विवाह और दहेज प्रथा को दर्शाती यह कहानी मजबूरियों की चांदर मे लिपटी स्त्री मन की व्यथा को बताती है। दो पुरुषों के बीच पिसती सुगना को पचा उसका अधिकार मिला कई प्रश्नों को कहानी उठाती है।

'भेड़िये' कहानी में भुवनेश्वर महिला को उपयोगी वस्तु के रूप में दिखाते हैं कि किस तरह पुरुष कई विवाह कर महिलाओं को वस्तु समझता है, महिला को मनुष्य समझना, उसे अधिकार देना, तो बहुत दूर की बात है। मोहन राकेश की कहानी 'उसकी रोटी' में भी एक ऐसी महिला के अधिकारों की बात की गयी है जो शादी होने के बाद भी इस चिन्ता से परेशान रहती है कि कहीं उसका पति उसे छोड़ न दे क्योंकि सामाजिक सुरक्षा का घेरा इतना मजबूत नही है और न ही बालो जो इस कहानी की मुख्य पात्र है वह आर्थिक रूप से इतनी मजबूत नही है उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं है ऐसा भी नही है। भारतीय समाज में ऐसी तमाम महिलाएं है जो अपने सभी कर्त्तव्यों का निर्वाहन करने के बाद भी अपने अधिकारों से वंचित रहती हैं और उपेक्षित तथा शोषण से भरा जीवन जीती रहती

है। कहीं न कहीं इन सबका कारण अशिक्षा और गरीबी भी है। जिससे वह अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए आवाज नही उठा पाती। अज्ञेय की 'रोज' कहानी मध्यवर्गीय स्त्री समस्याओं को उजागर करती एक ऐसी कहानी है। जिसमें मालती अपने वैवाहिक जीव मे एक मशीन की तरह जिन्दगी जीती है। रोज–रोज वही समय के अनुसार नये काम जिसमें अपने विचारों को, अपने अधिकारो का कोई स्थान नही दिया गया। जिस तरह एक मशीन सिर्फ स्विच ऑन करने से चलती रहती है उसी तरह मध्यवर्गीय स्त्रियां अपने जीवन मे चलती रहती है स्त्रियों को अपने विचारो को प्रस्तुत करने का अधिकार नही होता और उन्ही मर्यादाओ मे पूरी जिन्दगी बिता देने को तैयार रहना पड़ता है, कभी आर्थिक, कभी सामाजिक दबाव और कभी अपने बच्चों के लिए। मालती का जीवन एकरसता और यांत्रिकता से भरा हुआ हैं। बातूनी लड़की शादी के दो वर्षो मे एक यांत्रिक लड़की मे तब्दील हो जाती है। स्त्री मन की गहरी भावनाओं को प्रस्तुत करती रोज कहानी साहित्य की महत्त्वपूर्ण कहानी है।

मूलतः मानवधिकार का तात्पर्य उससे है जो व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता, गरिमा एवं प्रति ठाा से संबंध रखता हैं हम उन नैतिक सिद्धांतों को मानवाधिकार कह सकते है जो मानव व्यवहार से संबंधित कुछ निश्चित मानक स्थापित करता हैं। साहित्य में मानव के अधिकारों की लड़ाई बहुत पुरानी है। निम्न वर्ग, मध्य वर्ग, उच्च वर्ग हर वर्ग में मानव अपने अधिकारों की मांग कर रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भोलाराम की जीव कहानी – हरिशंकर परसाई
2. चीफ की दावत – भीष्म साहनी
3. कठपुतलियां – मनीषा कुलश्रेष्ठ
4. भेड़िये – भुवनेश्वर
5. उसकी रोटी – मोहन राकेश
6. रोज – अज्ञेय
7. हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास – डॉ0 रामचन्द्र त्रिपाठी

■

एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

घरेलू हिंसा

सुबोध कुमार / प्रो. रानू शर्मा *

घरेलू हिंसा एक समाजशास्त्रीय अध्ययन से आशय घरेलू हिंसा के विविध पहलुओं का अध्ययन करने से है। घरेलू हिंसा किसी भी घर के लिए उचित नहीं है। परिवार समाज का आधार है और महिला परिवार का आधार बिन्दु। सम्पूर्ण परिवार के लोग उसके इर्द–गिर्द घूमते नजर आते हैं। अतः परिवार में महिलाओं के प्रति हिंसा से परिवार का महौल ही खराब नहीं होता बल्कि बच्चों की परवरिश पर भी बुरा असर पड़ता है, जब बच्चों की परिवरिश सही नहीं हो पायेगी तो बच्चों का भविष्य खराब होने की सम्भावना रहेगी। अच्छे बच्चे ही आगे चलकर राष्ट्र निर्माण में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। इसलिए महिलाओं की राष्ट्र निर्माण में भी अहम् भूमिका है। इसलिए किसी भी कीमत पर धरेलु हिंसा नहीं होनी चाहिए। उसमें महिलाओं को शारीरिक, मानसिक आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भारतीय संविधान में महिलाओं को पुरुषों के बराबर का अधिकार है। जबकि ऐसा पहले नहीं था, इसलिए महिलाओं को घरेलू हिंसा का ज्यादा सामना करना पड़ता था। वर्तमान में सरकार ने घरेलू हिंसा संरक्षण अधिनियम 2005 के तहत कानून बनाकर महिलाओं के प्रति बढ़ती घरेलू हिंसा को रोकने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना – महिलाएं परिवार का अहम् हिस्सा हैं। परिवार समाज की इकाई है। इसलिए समाज में महिलाओं की अहम् भूमिका है। दुनिया में लगभग आधी आबादी महिलाओं की है और वे लगभग सभी सम्भाव्य उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी करतीं हैं। इसके बावजूद उनके इन कार्यों को लोग कम महत्त्व देते हैं और पुरुषों के कार्यों को ही महत्त्व दिया जाता है। जैसे – कृषि कार्यों मे महिलाएं लगभग बराबरी की हिस्सेदारी निभाती हैं। इसके बावजूद भी किसान पुरुष ही कहलाता हैं। एक माता असहनीय पीड़ा सहकर बच्चे को जन्म देती हैं और उसका पालन–पोषण करती है और परिवार एवं बच्चों के साथ रहकर उनका विभिन्न प्रकार के कार्यों में हाथ बटाती है लेकिन उसे शमशान घाट नहीं दिया जाता, वह चिता को मुखाग्नि नहीं दे सकती जैसे आदि अनेक अवसर ऐसे होते हैं, जहाँ महिलाओं को दूसरे दर्जे का होने का अहसास कराया जाता है।

❖ संपर्क : शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, के.ए.पी.जी. कॉलेज, कासगंज, /शोध निर्देशिका प्राचार्या, श्रीमती शादरा जौहरी नगरपालिका, कन्या महाविद्यालय, कासगंज।

यहाँ तक ही यह समस्या नहीं हैं, पुरुषों द्वारा महिलाओं का शोषण भी किया जाता है। उन्हे मारा–पीटा जाता है, उनके साथ शारीरिक, मानसिक, यौनिक, शाब्दिक आदि प्रकार की हिंसा भी की जाती है। जब यही शोषण, हिंसा घरेलू पुरुषों द्वारा की जाती है तो उसे घरेलू हिंसा कहते हैं।

घरेलू हिंसा पर कुछ विद्वानों के निम्नलिखित विचार हैं–

तेज सिंह, अम्बेडकरवादी स्त्री चिन्तन, सामाजिक शोषण के खिलाफ आत्मवृतात्मक संघर्ष मे लिखते हैं कि – 'ब्राह्मणी पितृसत्ता में सभी वर्ग और सभी समाजों की नारियाँ समान रूप से असमानता की शिकार हैं, कुछ कम तो कुछ ज्यादा, इसलिए पितृसत्ता ब्राह्मणी हो या गैर ब्राह्मणी वह नारी के शोषण का अधिकार स्वतः ही अधिकार दे देती है। ब्राह्मणी पितृ सत्ता का सामाजिक आधार लिंग और जाति है। जो इसे दुनियां की अन्य पितृ सत्ताओं से अलग कर देता है।'[1]

राजकिशोर, स्त्री–पुरुष एक पुनर्विचार में लिखते है कि 'धर्म भी स्त्री संघर्ष का महत्त्वपूर्ण माध्यम रहा है, हाँ वही धर्म जिसने स्त्री को गुलाम बनाने मे अहम् भूमिका निभाई।'[2]

यह सच है धर्म के माध्यम से स्त्री को दोयम दर्जा देने की सफल साजिश की गई स्म ति में स्त्री को शूद्र कहा गया है और शूद्र का हमेशा से शोषण ही हुआ है। उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा गया है और उनके साथ प्रत्येक प्रकार की हिंसा की गई है। जिसे आजकल मानवाधिकारों का उल्लंघन भी कहा जाता है। महिलाओं और शूद्रों का एक ही धर्म था केवल सेवा करना बिना अधिकार व सम्मान के।

आप्टे लिखते है कि 'बौद्धिक ऋचाओं में भूमि और पुत्रों की कामना तो की गई, लेकिन पुत्रियों की नहीं। इसका कारण यह है कि उत्पादन पद्धति में पुरुष प्रधान है, स्त्री का स्थान गौण है।'[3]

यही कारण है कि जब स्त्री आर्थिक रूप से कमजोर हो गई तो उसका समाज में दोयम स्थान होना स्वाभाविक हो गया। इस संदर्भ में तुलसीदास ने राम चरित मानस में कष्टों का वर्णन हुए लिखा है कि 'पराधीनि सपनेहु सुख नाहिं'[4] का अर्थ है, पराधीनता का जीवन जीने वाला व्यक्ति सपनों में सुख नहीं पाता। इस संसार का प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहता है। पशु–पक्षी तक बन्धनमुक्त रहना चाहते हैं फिर मनुष्य की बात ही क्या है। पराधीनता कलंक के समान होती है।

पराधीनता व्यक्ति अपनी इच्छा के बिना जी नहीं सकता। उसका खाना–पीना, उठना–बैठना सब दूसरों की इच्छा पर निर्भर करता है। अमेरिका में दास प्रथा के खिलाफ अमेरिका राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने अहम् भूमिका निभाई। उन्होने वहाँ के लोगों के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी और दासों को बन्धन मुक्त कराया।

महाभारत काल भी महिलाओं के लिए अच्छा नहीं माना जा सकता उस काल में द्रोपदी का युधिष्ठिर द्वारा दांव पर लगाया जाना हो या पांच पतियो के बीच में एक पत्नी होना दोंनों ही परिस्थितियां नारी शोषण को इंगित करती हैं।

मुगल काल में पर्दा प्रथा का चर्मोत्कर्ष पर होना भी नारी दास्तां को दर्शाता है।

महिला हिंसा की गम्भीरता को समझते हुए अंग्रेजी सरकार द्वारा कुछ प्रावधान किये गये, जहाँ से नारी मुक्ति के कुछ रास्ते खुले।

अन्ततः भारतीय संविधान बनने पर महिलाएं कानूनी रूप से समानता के आधार पर स्वतंत्र हो सकी। डॉ0 अम्बेडकर जी ने महिला दास्तां, मुक्ति हेतु उन्हे समानता, स्वतंत्रता, न्याय, शोषण से बचने के लिए अत्याधिक प्रयास किये।

महिला के सुरक्षा संबंधी प्रावधान

संवैधानिक प्रावधान

1. अनुच्छेद 14 – विधि के समक्ष समानता।,
2. अनुच्छेद 16 – लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता।
3. अनुच्छेद 19 – वाक् स्वातंत्र्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण।
4. अनुच्छेद 21 – प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण।
5. अनुच्छेद 21 (क) – शिक्षा का अधिकार।
6. विशेष–शिक्षा (मुक्त तथा अनिवार्य शिक्षा) का मूल अधिकार (दिसम्बर 2002) 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को केन्द्र सरकार द्वारा निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराया जाना। (86 वां संविधान संशोधन)
7. अनुच्छेद 23 – मानव दुर्व्यावहाार और वलात श्रम का प्रतिरोध।
8. अनुच्छेद 39(क) – समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता।
9. अनुच्छेद 42 – काम की न्यायोचित और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध।
10. अनुच्छेद 43 – कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि।

महिलाओं संबंधी अधिनियम

1. बागान श्रम अधिनियम 1951
2. कर्मचारी राज्य बीमा विनियम अधिनियम 1952
3. खान अधिनियम 1952
4. बीड़ी एवं सिगार कर्मकार अधिनियम 1966
5. प्रसूति सुविधा अधिनियम 1961
6. दहेज निषेध अधिनियम 1961
7. वेक्ता श्रम अधिनियम 1970
8. चूना–पत्थर डोलोमाइट खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1972
9. लौह, मैग्नीज एवं अयस्क खान, श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1926।
10. समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976
11. बाल विवाह निषेध अधिनियम 1976
12. स्त्री अशिष्ट निरूपढ़ निषेध अधिनियम 1986
13. वेश्यावृत्ति निवारण (संसोधन) अधिनियम 1986
14. सती निषेध अधिनियम 1987
15. 73 वां 74 वां संविधान संशोधन अधिनियम 1993

16. प्रसव पूर्व निदान तकनीक 1994
17. राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम 1990
18. विशेष विवाह अधिनियम 1954
19. हिन्दू विवाह अधिनियम 1955

- धारा 498 (क)– किसी स्त्री के पति अथवा पति के नातेदार द्वारा उसके साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार करना।
- धारा 304 व दहेज मृत्यु धारा 354, स्त्री की लज्जा भंग करने के आशय से उस पर हमला का आपराधिक बल का प्रयोग।
- धारा 376 वलात्संग के लिए देह।
- धारा 376 (क) प्रथम रहने के दौरान किसी पुरुष द्वारा अपनी पत्नी के साथ संभोग।
- धारा 376 (ख) लोक सेवक द्वारा अपनी अभिरक्षा में किसी स्त्री के साथ संभोग।
- धारा 376 (ग) जेल, प्रतिप्रेक्षण – गृह आदि के अधीक्षक द्वारा संभोग।
- 376 (घ) अस्पताल के प्रबंध या कर्मचारी वृन्द आदि के किसी सदस्य द्वारा उस अस्पताल मे किसी स्त्री के साथ संभोग।
- धारा 377 प्रकृति विरूद्ध अपराध।
- धारा 312 गर्भपात कारित करना।
- धारा 314 गर्भपात कारित करने के आशय से किये गये कार्यों द्वारा कारित मृत्यु।
- हिन्दू विवाह अधिनियम 1955
- हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956
- अनुच्छेद 243 (घ) (4) पंचायतो में 1/3 महिला आरक्षण आदि अनेक कानूनों के चलते महिलाओं की स्थिति में सुधार आया।

  घरेलू हिंसा को रोकने के लिए भारत सरकार ने घरेलू हिंसा संरक्षण अधिनियम 2005 बनाया। जो महिलाओं के प्रति होने वाली घरेलू हिंसा को रोकता है।

  घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम 2005, 13 सितम्बर 2005 को लागू हुआ इसके अन्तर्गत ऐसी महिलाओं के, जो कुटुम्ब के भीतर होने वाली किसी प्रकार की हिंसा से पीड़ित हैं, सवंधिान के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों के अधिक प्रभावी संरक्षण और उससे संबंधित या उनमे आनुसंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए अधिनियम है।

घरेलू हिंसा की परिभाषा

इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए प्रत्यर्थी का कोई कार्य, लोप या किसी कार्य का करना या घरेलू हिंसा गठित करेगा यदि वह.–

(क) व्यथित व्यक्ति के स्वास्थ्य, सुरक्षा, जीवन, अंग की या चाहे उसकी मानसिक या शारीरिक भलाई की अपहानि करता है, या उसे कोई क्षति पहुंचाता है या उसे संकटापन्न करता है या उसकी ऐसा करने की प्रकृति

है और जिसके अंतर्गत शारीरिक दुरुपयोग, लैंगिक दुरुपयोग, मौखिक और भावनात्मक दुरुपयोग और आर्थिक दुरुपयोग करना भी हैः या

(ख) किसी दहेज या अन्य संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति के लिए किसी विधिविरुद्ध मांग की पूर्ति के लिए उसे या उससे संबंधित किसी अन्य व्यक्ति को प्रपीड़ित करने की दृष्टि से व्यथित व्यक्ति का उत्पीड़न करता है या उसकी अपहानि करता है या उसे क्षति पहुंचाता है या संकटापन्न करता है; या

(ग) खंड (क) या खंड (ख) में वर्णित किसी आचरण द्वारा व्यथित व्यक्ति या उससे संबंधित किसी व्यक्ति पर धमकी का प्रभाव रखता है; या

(घ) व्यथित व्यक्ति को, अन्यथा क्षति पहुंचाता है या उत्पीड़न कारित करता है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक ।

स्पष्टीकरण 1—इस धारा के प्रयोजनों के लिए,

i. "शारीरिक दुरुपयोग" से ऐसा कोई कार्य या आचरण अभिप्रेत है जो ऐसी प्रकृति का है, जो व्यथित व्यक्ति कोशारीरिक पीड़ा, अपहानि या उसके जीवन, अंग या स्वास्थ्य को खतरा कारित करता है या उससे उसके स्वास्थ्य या विकासका ह्रास होता है और इसके अंतर्गत हमला, आपराधिक अभित्रास और आपराधिक बल भी हैः

ii. "लैंगिक दुरुपयोग" से लैंगिक प्रकृति का कोई आचरण अभिप्रेत है, जो महिला की गरिमा का दुरुपयोग, अपमान, तिरस्कार करता है या उसका अन्यथा अतिक्रमण करता है;

iii. "मौखिक और भावनात्मक दुरुपयोग" के अन्तर्गत निम्नलिखित हैं,N

(क) अपमान, उपहास, तिरस्कार, गाली और विशे । रूप से संतान या नर बालक के न होने के संबंध में अपमान या उपहास, और

(ख) किसी ऐसे व्यक्ति को शारीरिक पीड़ा कारित करने की लगातार धमकियां देना, जिसमें व्यथित व्यक्ति हितबद्ध है;

iv. "आर्थिक दुरुपयोग" के अंतर्गत निम्नलिखित हैंः—

(क) ऐसे सभी या किन्हीं आर्थिक या वित्तीय संसाधनों, जिनके लिए व्यथित व्यक्ति किसी विधि या रूढ़ि के अधीन हकदार है, चाहे वे किसी न्यायालय के किसी आदेश के अधीन या अन्यथा संदेय हों या जिनकी व्यथित व्यक्ति, किसी आवश्यकता के लिए, जिसके अंतर्गत व्यथित व्यक्ति और उसके बालकों, यदि कोई हों, के लिए घरेलू आवश्यकताएं भी हैं, अपेक्षा करता है, किन्तु जो उन तक सीमित नहीं हैं, स्त्रीधन, व्यथित व्यक्ति के संयुक्त रूप से या पृथक्तः स्वामित्वाधीन संपत्ति, साझी गृहस्थी और उसके रखरखाव से संबंधित भाटक का संदाय, से वंचित करना;

(ख) गृहस्थी की चीजवस्तु का व्ययन, आस्तियों का चाहे वे जंगम हों या स्थावर, मूल्यवान वस्तुओं, शेयरों, प्रतिभूतियों, बंधपत्रों और उसके सदृश या अन्य संपत्ति का, जिसमें व्यथित व्यक्ति कोई हित रखता है या घरेलू नातेदारी के आधार पर उसके प्रयोग के लिए हकदार है या जिसकी

व्यथित व्यक्ति या उसकी संतानों द्वारा युक्तियुक्त रूप से अपेक्षा की जा सकती है या उसके स्त्रीधन या व्यथित व्यक्ति द्वारा संयुक्ततः या पृथक्तः धारितकिसी अन्य संपत्ति का कोई अन्य संक्रामण; और

(ग) ऐसे संसाधनों या सुविधाओं तक, जिनका घरेलू नातेदारी के आधार पर कोई व्यथित व्यक्ति, उपयोग या उपभोग करने के लिए हकदार है, जिसके अंतर्गत साझी गृहस्थी तक पंहुच भी है, लगातार पहुंच के लिए प्रतिषेध या निर्बन्धन ।

स्पष्टीकरण 2– यह अवधारित करने के प्रयोजन के लिए कि क्या प्रत्यर्थी का कोई कार्य, लोप या किसी कार्य का करना या आचरण इस धारा के अधीन "घरेलू हिंसा" का गठन करता है, मामले के संपूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार किया जाएगा।

निष्कर्षतः हम यह सकते है कि महिला हिंसा किसी भी रूप में न्यायोचित नहीं है और यह महिला को ही नहीं महिला से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करता है। चूंकि महिला समाज का अभिन्न अंग है। सारा परिवार उनके इर्द–गिर्द घूमता रहता है। परिवार के समग्र का निर्माण होता है। इसलिए महिला समाज निर्माण में अहम् भूमिका निभाती है। घरेलू हिंसा अधिनियम का महिलाओं की जिन्दगी पर सकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। यह महिलाओं की सुरक्षा के लिए उचित है।

अतः हम कह सकते है कि महिला हिंसा रोकथाम मे भारतीय संविधान एवं घरेलू हिंसा संरक्षरण अधिनियम 2005 अहम् भूमिका निभाता रहा है, जिससे भयवश ही सही लोगो द्वारा घरेलू हिंसा कम हो रही है। सरकार को चाहिए कि ऐसे नियमों को ओर शख्ती से लागू किया जाए।

सदंर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह तेज, अम्बेडकर वादी, स्त्री चिंतन, सामाजिक शोषण के खिलाफ आत्मवृत्तात्मक संघर्ष 2011, स्वराजप्रकारशन, नई दिल्ली पृ.सं. 13
2. राजकिशोर, स्त्री के लिए जगह (2006), वाणी प्रकाशन नई दिल्ली पृ.सं. 26
3. भाटी, कान्ता, महिला उत्पीड़न दहेज प्रताड़ना तथा दहेज हत्या, प्वाइण्टर पब्लिसर्स जयपुर, पृ.सं. 37
4. तुलसीराम, श्रीरामचरित मानस, गीता प्रेस गोरखपुर।
5. सिंह डॉ0 शैलेन्द्र, भारत में महिला सशक्तीकरण की दशा एवं दिशा, नवभारत पब्लिकेशन पृ.सं. 76–83।
6. घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम 2005, यूनीवर्सल लॉ पब्लिकेशन, प्रयागराज, पृ.सं. 2–3।

■

भारत में युवाओं पर

टेलीविजन विज्ञापनों का प्रभाव

रीता कुमारी ❖

लेख का उद्देश्य भारत में युवाओं पर टेलीविजन विज्ञापनों की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का एक सामाजिक–मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना था। वर्तमान अध्ययन का नमूना रांची के विभिन्न कॉलेजों से यादृच्छिक नमूना पद्धति द्वारा पत्रकारिता और जनसंचार का अध्ययन करने वाले 185 छात्रों का था। सी. एच. लॉशे (1975) द्वारा युवाओं पर टेलीविजन विज्ञापनों की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव पर प्रश्नावली का उपयोग किया गया। इस अध्ययन के निष्कर्षों से पता चला है कि महिला (M = 31.87) ने पुरुषों (M = 29.35) की तुलना में उन टेलीविजन विज्ञापनों को अधिक पसंद किया है जो उनकी खरीदारी प्राथमिकताओं को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, जिन छात्रों के माता–पिता की वार्षिक आय 10 लाख से अधिक है, उनकी खरीदारी प्राथमिकता (M = 31. 08) उन छात्रों के संबंध में अधिक है जिनके माता–पिता की वार्षिक आय 10 लाख या उससे कम है।

टेलीविज़न सूचना प्रसारित करने का एक बहुत लोकप्रिय माध्यम है, क्योंकि इसके श्रवण और दृश्य प्रभाव और जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों तक पहुँचने की इसकी क्षमता है। यह तत्व विज्ञापन को एक बढ़त देता है, जो विभिन्न उत्पादों और ब्रांडों के बारे में संभावित खरीदारों के बीच जागरूकता पैदा करने का एक प्रभावी उपकरण है। इस प्रकार, टेलीविज़न में विज्ञापन उत्पादों की खरीद को प्रोत्साहित करता है और विपणन गतिविधियों को व्यापक बनाता है। यह सामाजिक–आर्थिक प्रक्रिया में उत्प्रेरक के रूप में कार्य करता है। संचार क्रांति के इस युग में, टेलीविजन विज्ञापन ने युवा दिमागों पर गहरा प्रभाव डालकर अपनी जगह बनाई है। इस घटना ने कई विज्ञापनदाताओं का ध्यान युवाओं के बीच विभिन्न उत्पादों के खरीदारों को प्रभावित करने और प्रभावित करने के लिए टेलीविज़न पर निर्भर होने की ओर आकर्षित किया है। टेलीविज़न को संभावित ग्राहकों और उपभोक्ताओं की एक बड़ी संख्या तक विज्ञापनों को संप्रेषित करने के लिए सबसे प्रभावी माध्यम माना जाता है। ध्वनि, दृश्य, क्रिया और रंग का सही समन्वय टेलीविज़न वाणिज्यिक सफलता का रहस्य है। आम दर्शकों द्वारा याद किए जाने और चर्चा किए जाने वाले मीडिया का सबसे संभावित रूप टेलीविज़न

❖ संपर्क : विश्वविद्यालय मनोविज्ञान विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची

है। (फ़ोर्ड हचिंसन और रोथवेल, 2002,)। कई विज्ञापनदाता युवाओं को अपने लक्षित बाजार का एक अनिवार्य हिस्सा मानते हैं, और विज्ञापन के बारे में उनके दृष्टिकोण से उनकी युवा–लक्षित विज्ञापन रणनीतियों में बदलाव हो सकते हैं। लंबे समय से, विज्ञापनदाता ग्राहकों तक पहुँचने और अपने उत्पादों का विपणन करने के लिए टेलीविज़न पर निर्भर रहे हैं। डोर (1986) के अनुसार, टेलीविज़न न केवल सबसे महत्वपूर्ण विज्ञापन माध्यम है, बल्कि जनता के लिए ज्ञान और मनोरंजन का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत भी है। आज, विज्ञापन विभिन्न सामाजिक संगठनों, सरकारी निकायों और राजनीतिक संगठनों से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए, एड्स, कन्या भ्रूण हत्या, नशीली दवाओं की लत और बालिका शिक्षा जैसे कई सामाजिक मुद्दों और समस्याओं के बारे में जागरूकता बढ़ाने वाले विज्ञापन। हम सार्वजनिक नोटिस वाले विज्ञापन भी देखते हैं जैसे कि आयकर रिटर्न दाखिल करने की अंतिम तिथि, पल्स पोलियो ड्रॉप्स के लिए 29 तारीख, इत्यादि। इसी तरह, विशिष्ट शीर्षकों वाले वर्गीकृत विज्ञापन, जैसे कि बिक्री के लिए संपत्ति, निविदा नोटिस, बिक्री के लिए ऑटोमोबाइल, वैवाहिक और सार्वजनिक नियुक्तियाँ, भी लोकप्रिय हैं। विज्ञापनदाता धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता के साथ–साथ जीवनशैली, आय स्तर, लिंग अनुपात, शिक्षा स्तर और उपभोग पैटर्न में विविधता को ध्यान में रखते हुए अभियान बनाते हैं। विज्ञापन अधिक से अधिक दिलचस्प होते जा रहे थे। किसी ब्रांड के बारे में उपभोक्ता जागरूकता बढ़ाने के लिए टेलीविज़न विज्ञापनों का उपयोग किया जाता है। टेलीविज़न विज्ञापनों का उपभोक्ता के दिमाग पर प्रभाव पड़ता है और उन्हें उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित करता है। कई अन्य विचार और सामाजिक मुद्दे, जैसे परिवार नियोजन, गर्भनिरोधक उपयोग, घरेलू हिंसा, एड्स, स्तन कैंसर, जागरूकता अभियान, मताधिकार जागरूकता और नेत्रदान जागरूकता अभियान जनता को जागृत करने के उद्देश्य से हैं। इसलिए, विज्ञापन का विस्तार सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में योगदान देता है। विज्ञापन ने उदारीकरण के बाद व्यक्तिवाद जैसे नए मूल्यों को पेश करके और भौतिकवाद और उपभोक्तावाद जैसे अन्य मूल्यों को तीव्र करके सांस्कृतिक परिवर्तन में योगदान दिया है, जिससे आवश्यक सामाजिक आदर्शों को कमजोर किया गया है। यह दावा किया गया है कि इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों और विचारों का पुनर्निमाण हुआ है, साथ ही पुरानी आदतों और व्यवहारों को कमजोर किया गया है।

भारतीय परिदृश्य में : भारत सरकार ने अगस्त 1965 में सामाजिक शिक्षा कार्यक्रमों के साथ–साथ मनोरंजन और सूचना कार्यक्रमों का प्रसारण शुरू किया। 1970 तक, सेवा को तीन घंटे तक बढ़ा दिया गया था, और इसमें समाचार, सूचना और मनोरंजन के अलावा अन्य कार्यक्रम भी शामिल थे। 1975 तक, भारत में दिल्ली, मुंबई, श्रीनगर, अमृतसर, कोलकाता, चेन्नई और लखनऊ में सात टेलीविज़न केंद्र थे, साथ ही पूना में एक रिले केंद्र भी था। 1 जनवरी, 1976 से, भारत के सभी टेलीविजन स्टेशनों पर 'विज्ञापन' प्रसारित किए जाने लगे। सैटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलीविज़न एक्सपेरिमेंट (SITE) लॉन्च किया गया, जो भारतीय

टेलीविज़न उद्योग में एक निर्णायक क्षण था। शैक्षिक टेलीविजन चैनल के प्रोग्रामिंग से शिक्षा की गुणवत्ता के साथ–साथ मात्रा में भी सुधार हुआ। 1982 में जब INSAT-IA को कक्षा में लॉन्च किया गया, तो इसमें भारी सुधार हुआ। भारत में सैटेलाइट चैनलों के उदय ने दूरदर्शन के एकाधिकार को एक घातक झटका दिया। बीसवीं सदी के अंत तक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के निजीकरण और कई अतिरिक्त सैटेलाइट चैनलों की स्थापना के कारण दूरदर्शन का एकाधिकार टूट गया। पहला निजी सैटेलाइट स्टेशन, केबल न्यूज़ नेटवर्क (CNN), 1990 के दशक में प्रमुखता से उभरा। 1991 में कई अंतरराष्ट्रीय खिलाड़ियों ने भारतीय टेलीविज़न परिदृश्य में प्रवेश किया, स्टार टीवी नेटवर्क, एमटीवी, स्टार प्लस, स्टार मूवीज़, बीबीसी, प्राइम स्पोर्ट्स और अन्य। डायरेक्ट टू होम (DTH) टेलीविज़न प्रसारण टेलीविज़न प्रसारण के क्षेत्र में एक उभरती हुई तकनीक है। भारत में, सरकार ने डायरेक्ट–टू–होम प्रसारण को मंज़ूरी दे दी है। भारत में इस तरह के विकास के कारण, टेलीविजन मास मीडिया के सबसे महत्वपूर्ण रूपों में से एक है। भारत में, 1990 के दशक में विज्ञापन उत्पाद प्रोफ़ाइल में परिवर्तन विशिष्ट जनसांख्यिकी के साथ–साथ नियामक परिवर्तनों के लिए विवेकाधीन आय स्तरों में परिवर्तन को दर्शाते हैं। श्रीनिवास (1999) के अनुसार, शीतल पेय, टूथपेस्ट, साबुन और डिटर्जेंट भारत के उन उद्योगों में से हैं जहाँ कड़ी प्रतिस्पर्धा है।

कार्यप्रणाली : अध्ययन का उद्देश्य युवाओं पर टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का अध्ययन करना है। इसका लक्ष्य युवाओं के जीवन में टेलीविज़न विज्ञापन की भूमिका की जांच करना है। अध्ययन युवा लोगों के खरीद निर्णयों पर टेलीविज़न विज्ञापन के प्रभाव को भी देखता है। अध्ययन का उद्देश्य यह भी निर्धारित करना है कि युवाओं को कौन सी उत्पाद श्रेणियाँ पसंद हैं, साथ ही उनकी टेलीविजन देखने की आदतें भी। वर्तमान अध्ययन प्रकृति में वर्णनात्मक है क्योंकि इसका उद्देश्य टेलीविजन विज्ञापन के उन चरों की जांच करना है जो युवाओं के टेलीविजन देखने के पैटर्न, पसंदीदा कार्यक्रम शैली और चैनल, उनके लिए विज्ञापन की उपयोगिता और ब्रांड वरीयता को प्रभावित करते हैं।

परिकल्पनाएँ : अध्ययन की निम्नलिखित परिकल्पनाएँ प्रस्तावित हैं:

1. उत्तरदाताओं की सामाजिक–जनसांख्यिकीय प्रोफ़ाइल की जाँच करना
2. टेलीविज़न विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव में लिंग अंतर होगा जो उनकी खरीदारी प्राथमिकताओं को प्रभावित करता है।
3. टेलीविज़न विज्ञापन देखने के बाद दैनिक उपयोगिताओं की खपत के साथ माता–पिता के प्रभाव का आय अंतर।

नमूना: इस शोध का नमूना 185 छात्रों का था, जिन्हें विभिन्न निजी और सरकारी संस्थानों/विश्वविद्यालयों से चुना गया था, जिसमें रांची में स्थित 'पत्रकारिता और जनसंचार' और 'विज्ञापन। फिल्म निर्माण और फोटोग्राफी' का अध्ययन किया जाता है। डेटा एकत्र करने के लिए स्तरीकृत यादृच्छिक नमूनाकरण तकनीक का उपयोग किया जाएगा। सी.एच. लॉशे (1975) द्वारा युवाओं पर

टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव पर प्रश्नावली का उपयोग किया गया।

विश्लेषण : प्रतिभागियों की जनसांख्यिकीय प्रोफ़ाइल

आयोजित सर्वेक्षण में, 185 उत्तरदाताओं में से 59.5% महिलाएँ हैं और शेष 40.5% पुरुष हैं।

तालिका : 1

प्रतिभागियों का लिंग के आधार पर वितरण

S. No.	Gender	Frequency	(N) Percentage
1	Male	75	40.5%
2	Female	110	59.5%
Total		185	100%

प्रतिभागियों की आयु के बारे में

आयु प्रतिभागियों के परिपक्वता स्तर का एक महत्वपूर्ण संकेतक है, जिसका उनके खरीद निर्णयों पर सीधा प्रभाव पड़ेगा।

तालिका : 2

आयु के अनुसार प्रतिभागियों का वितरण

S. No.	Age	Frequency	(N)Percentage
1	18	27	14.6%
2	19	56	30.3%
3	20	41	22.2%
4	21	29	15.7%
5	22	12	6.5%
6	23	10	5.4%
7	24	4	2.2%
8	25	2	1.1%
9	27	4	2.2%
Total		185	100%

प्रतिभागियों की वार्षिक पैतृक आय के बारे में

माता–पिता की आय का प्रतिभागियों की जीवनशैली पर सीधा प्रभाव पड़ता है, जो बदले में उनके उत्पादों और ब्रांडों के चयन को प्रभावित करेगा।

तालिकाः 3

माता–पिता की आय समूह के अनुसार उत्तरदाताओं का वितरण

S. No.	Parental Income	Frequency (N)	Percentage
1	Less than 5 Lakh	59	31.9%
2	5 to 10 Lakh	63	34.1%
3	10 to 15 Lakh	45	24.3%
4	More than 15 Lakh	18	9.7%
Total		185	100%

प्रतिभागियों की टेलीविजन देखने की आदतों के बारे में

जब उत्तरदाताओं से टेलीविजन देखने की आदतों के बारे में पूछा गया, तो उनमें से 74.6% ने टेलीविजन देखा, जबकि 25.4% ने टेलीविजन नहीं देखा।

तालिका : 4

प्रतिभागियों की टेलीविजन देखने की आदतें

S. No.	Television viewing	Frequency (N)	Percentage
1	Yes	138	74.6%
2	No	47	25.4%
Total		185	100%

प्रतिभागियों का पसंदीदा कार्यक्रम

कार्यक्रम का चयन यह तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है कि हमें किस कार्यक्रम में विज्ञापन दिखाना चाहिए।

तालिका: 5

प्रतिभागियों का पसंदीदा कार्यक्रम देखना

S. No,	Preferred Programme name	Frequency(N)	Percentage
1	Serials	19	10.3%
2	News & current affairs	44	23.8%
3	Reality Show	25	13.5%
4	Cinema	41	22.2%
5	Sports	11	5.9%
6	Comedy Show	22	11.9%
7	Talk Show	7	3.8%
8	Animations	16	8.6%
Total		185	100%

प्रतिभागियों पर टेलीविजन कार्यक्रम का प्रभाव

तालिका : 6

प्रतिभागियों पर टेलीविजन कार्यक्रम का प्रभाव

S. No	Impact of Television programme	Frequency (N)	Percentage
1	Majority of the respondents	156	84.3%
2	Television does influence viewers	4	2.2%
3	can't say option	25	13.5%
Total		185	100%

परिकल्पना 2: टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव में लिंग के आधार पर अंतर होगा जो उनकी खरीदारी प्राथमिकताओं को प्रभावित करेगा।

तालिका: 7

टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव के संबंध में प्रतिभागियों की पसंद

(लिंग के आधार पर)

S. No.	Choice of advertisement	Frequency N	Percentage	Female N	Female %	Female N	Female %
1	Toilet Soap	15	8.10%	6	8.0	9	8.2
2	Deodorant	33	17.80%	20	26.7	13	11.8
3	Detergents	14	7.60%	4	5.3	10	9.1
4	Pens / Pencils	11	5.90%	5	6.7	6	5.5
5	Chocolates	51	28.10%	12	16.0	39	35.5
6	Bubble gums	9	4.90%	4	5.3	5	4.5
7	Noodles	15	8.10%	7	9.3	8	7.3
8	Toothpaste	9	4.90%	5	6.7	4	3.6
9	Coffee / Tea	7	3.90%	5	6.7	2	1.8
10	Cold Drink	7	3.80%	5	6.7	2	1.8
11	Beauty cream	14	7.60%	2	2.7	12	10.9
Total		185	100	75	100	110	100

ग्राफ: 1

विज्ञापन के चयन के संबंध में लिंग पर टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का प्रतिशत का ग्राफिकल प्रतिनिधित्व

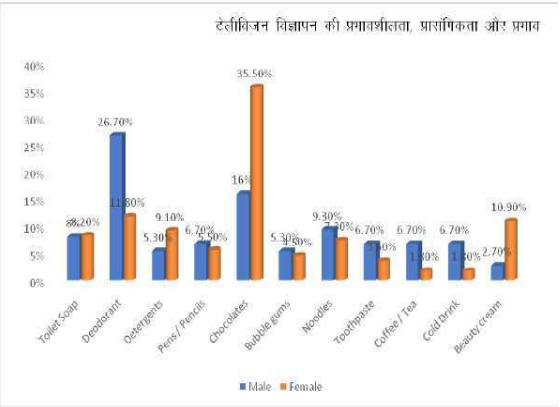

तालिका 7 से पता चलता है कि

महिलाओं ने पुरुषों की तुलना में टॉयलेट सोप (8.2%), डिटर्जेंट (9.1%), चॉकलेट्स (35.5%) और ब्यूटी क्रीम (10.9%) के लिए टेलीविजन विज्ञापन देखना अधिक पसंद किया। जबकि, पुरुषों ने डिओडोरेंट (17.8%), कॉफी/चाय (3.9%) और कोल्ड ड्रिंक (3.9%) के लिए टेलीविजन विज्ञापन देखना अधिक पसंद किया।

तालिका 8

टेलीविज़न विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का माध्य, एस.डी. और 'टी' मान जो छात्रों के लिंग के संबंध में उनकी क्रय प्राथमिकताओं को प्रभावित करते हैं।

S. No.	Variables	Subgroup	Effectiveness, relevance and impact of television advertising				
			N	Mean	S D	t	Significance
1	Gender	Male	75	29.35	2.65	6.47	0.01 level
		Female	110	31.87	2.52		

तालिका 8 से पता चलता है कि

महिला (M = 31.87) ने पुरुषों (M = 29.35) की तुलना में अपनी खरीदारी प्राथमिकताओं को प्रभावित करने वाले टेलीविज़न विज्ञापनों को अधिक पसंद किया है और t का मान 0.01 स्तर पर महत्वपूर्ण है।

परिकल्पना 3: टेलीविज़न विज्ञापन देखने के बाद दैनिक उपयोगिताओं की खपत के साथ माता–पिता के प्रभाव का आय अंतर

तालिका : 9

टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव के संबंध में प्रतिभागियों की पसंद

S. No.	Choice of advertisement	Frequency N	Percentage	Parent having income 10 Lakh or less	Parent having income 10 Lakh Plus
				Percentage	Percentage
1	Toilet Soap	15	8.10%	4.1	4.0
2	Deodorant	33	17.80%	5.2	11.9
3	Detergents	14	7.60%	2.1	5.5
4	Pens / Pencils	11	5.90%	2.9	3.0
5	Chocolates	51	28.10%	10.2	17.9
6	Bubble gums	9	4.90%	2.2	2.7
7	Noodles	15	8.10%	3.8	4.3

8	Toothpaste	9	4.90%	2.4	2.5
9	Coffee / Tea	7	3.90%	1.2	2.7
10	Cold Drink	7	3.80%	1.1	2.7
11	Beauty cream	14	7.60%	2.4	5.2
Total		185	100	37.6	62.4

ग्राफ: 2

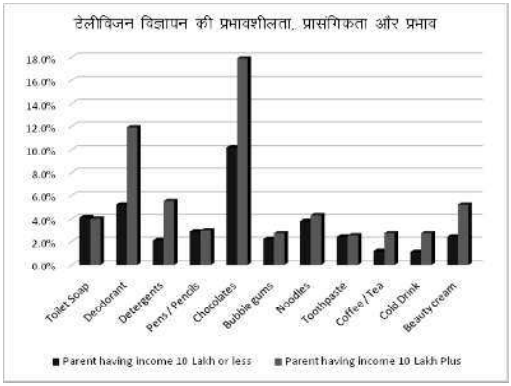

विज्ञापन के चयन के संबंध में छात्रों, अभिभावकों की आय पर टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का प्रतिशत का ग्राफिकल प्रतिनिधित्व

तालिका 8 से पता चलता है कि

जिन छात्रों के माता–पिता की वार्षिक आय 10 लाख से अधिक है, वे टेलीविजन पर डिओडोरेंट (11.9%), चॉकलेट (17.9%) और ब्यूटी क्रीम (5.2%) के विज्ञापन देखने के बाद दैनिक उपयोगिताओं की खपत उन छात्रों की तुलना में अधिक करते हैं, जिनके माता–पिता की वार्ि ाक आय 10 लाख या उससे कम है।

तालिका : 10

टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव का माध्य, एसडी और 'टी' मान जो छात्रों की वार्षिक अभिभावक आय के संबंध में उनकी क्रय प्राथमिकताओं को प्रभावित करते हैं

Variables	Subgroup	Effectiveness, relevance, and impact of television advertising				
		N	Mean	S D	t	Significance
Parent's income	Parent having income 10 Lakh or less	122	28.12	2.32	8.56	0.01 level
	Parent having income 10 Lakh Plus	63	31.08	2.18		

तालिका 10 से पता चलता है कि

जिन छात्रों के माता–पिता की वार्षिक आय 10 लाख से अधिक है, उनकी क्रय प्राथमिकता उन छात्रों की तुलना में अधिक है जिनके माता–पिता की वार्षिक आय 10 लाख या उससे कम है और t का मान 0.01 स्तर पर महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष:

टेलीविजन विज्ञापनों का उपयोग किसी ब्रांड के बारे में उपभोक्ता जागरूकता बढ़ाने के लिए किया जाता है। टेलीविजन विज्ञापन उपभोक्ता के दिमाग पर प्रभाव डालते हैं और उन्हें उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित करते हैं। कुल मिलाकर, अध्ययन का निष्कर्ष है कि प्रभावशीलता, प्रासंगिकता और प्रभाव के मामले में टेलीविजन विज्ञापन का युवाओं पर बड़ा प्रभाव है। प्रतिभागियों के लिंग, आय, प्रतिभागियों के मासिक व्यय आदि जैसे सामाजिक–मनोवैज्ञानिक विवरणों का विश्लेषण विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिए किया गया था। अध्ययन के उद्देश्यों का अध्ययन करने के लिए प्रतिभागियों की टेलीविजन और विज्ञापन देखने की आदतों का विश्लेषण किया गया था। यादृच्छिक नमूनाकरण तकनीक का उपयोग करके कुल 185 उत्तरदाताओं को नमूने में शामिल किया गया। इन प्रमुख सामाजिक–मनोवैज्ञानिक चरों का युवाओं पर टीवी विज्ञापन के प्रभाव का विश्लेषण करने पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने की संभावना है। खरीद प्रक्रिया में, जनसांख्यिकीय कारक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। युवा पीढ़ी टीवी विज्ञापनों से बहुत प्रभावित होती है और व्यावहारिक रूप से उन उत्पादों को खरीदती है जिनका अक्सर टीवी विज्ञापनों में विज्ञापन किया जाता है (शाह 2016)।

संदर्भ :

बक्शी, एस. (2012), "उपभोक्ता खरीद व्यवहार पर लिंग का प्रभाव", वाणिज्य एवं प्रबंधन में शोध पत्रिका, 1(9) 1–8.

बिश्नोई, वी. के., और शर्मा, आर. (2009). खरीद व्यवहार पर टीवी विज्ञापन का प्रभावः शहरी और ग्रामीण किशोरों का तुलनात्मक अध्ययन. जे.के. जर्नल ऑफ मैनेजमेंट एंड टेक्नोलॉजी, 1(1), 65–76.

डोर, ए. (1986). टेलीविजन और बच्चेः विशेष दर्शकों के लिए एक विशेष माध्यम, बेवर्ली हिल्स, सेज.

दत्ता, अंकुरन और रे, अनामिका. (2011). भारत में मीडिया शिक्षाः एक सहकर्मी परिप्रेक्ष्य.

ग्रीष्मा पटेल और राजेंद्र जैन (2013), युवाओं के खरीद व्यवहार पर टीवी विज्ञापन का प्रभाव, वाणिज्य एवं प्रबंधन में शोध पत्रिका, 2(3) 27–38.

गुहा, एस. (2013), "शहरी भारत में महिला उपभोक्ताओं की बदलती धारणा और खरीद व्यवहार", जर्नल ऑफ बिजनेस एंड मैनेजमेंट, 11(6), 34–39।

हसन, ए. (2015), "उपभोक्ता खरीद व्यवहार पर टीवी विज्ञापन का प्रभावः ग्रामीण–शहरी और पुरुष–महिला उपभोक्ताओं का तुलनात्मक अध्ययन", इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इनोवेशन एंड एप्लाइड स्टडीज, 11(3), 608–614।

के.एस., हेमामालिनी और कुरुप, एस.के. (2014), "खरीद इरादे पर टेलीविजन विज्ञापन की प्रभावशीलता", इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इनोवेटिव रिसर्च इन साइंस, इंजीनियरिंग एंड टेक्नोलॉजी, 3(2), 9416–9422।

कोठारी, सी.आर. (2004), अनुसंधान पद्धतिः विधियाँ और तकनीकें, (दूसरा संस्करण), न्यू एज इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 56–59

कोटवाल निधि, गुप्ता नीलिमा और देवी राजी (2008) "किशोरियों के खरीद पैटर्न पर टीवी विज्ञापनों का प्रभाव", जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज, 16(1), 51–55.

कुमार, डी. और बंसल, एम. (2013), "किशोरों के खरीद पैटर्न पर टेलीविजन विज्ञापनों का प्रभाव– पंजाब का एक अध्ययन", इंटरनेशनल जर्नल ऑफ कंप्यूटर साइंस एंड कम्युनिकेशन इंजीनियरिंग, 17–21.

मेहता, ए. (2000). विज्ञापन दृष्टिकोण और विज्ञापन प्रभावशीलता. जर्नल ऑफ एडवरटाइजिंग रिसर्च, 40(3), 67–71.

मिश्रा, पी.के. (2001). "डायरेक्ट टू होम टेलीविजन का शैक्षिक परिप्रेक्ष्य", यूनिवर्सिटी न्यूज, 39(4), 17–18.

नरेश के. मल्होत्रा, (2004), "मार्केटिंग रिसर्चः एक अनुप्रयुक्त अभिविन्यास" पियर्सन एजुकेशन (सिंगापुर) प्राइवेट लिमिटेड, 279–283

प्रिया पंकज, बैस्या रजत कांति, शर्मा सीमा, (2010) "टेलीविजन विज्ञापन और बच्चों का खरीदारी व्यवहार", मार्केटिंग इंटेलिजेंस एंड प्लानिंग, 28 (2), 151–169

सद्दाम हुसैन शाह (2016)। युवाओं की जीवनशैली पर टीवी विज्ञापनों का प्रभाव। बांग्लादेश ई–जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी। 13, 156–166।

वर्मा डी पी एस और कपूर नीरू (2004), "बच्चों की खरीदारी प्रतिक्रिया पर टीवी विज्ञापनों का प्रभावः अभिभावक–बच्चे की बातचीत की भूमिका", ग्लोबल बिजनेस रिव्यू, 5 (1), फरवरी, 51–71।

■

पालन–पोषण शैली और शैक्षिक उपलब्धियाँ

ज्योति किंडो *

वर्तमान शोध का उद्देश्य पेरेंटिंग शैलियों और शैक्षणिक उपलब्धि के संबंध में किशोरों के बीच मनोवैज्ञानिक कल्याण की जांच करना है। वर्तमान अध्ययन का नमूना केवल कक्षा – XI और XII के 120 छात्रों का था। उन्हें झारखंड के रांची में स्थित विभिन्न निजी और सरकारी स्कूलों से चुना गया था। नमूना 2X2 फैक्टरियल डिज़ाइन पर आधारित था। नमूने के चयन के लिए स्तरीकृत यादृच्छिक नमूना तकनीक का उपयोग किया गया था। मनोवैज्ञानिक कल्याण पैमाना (रयफ, 1995) का उद्देश्य सकारात्मक कामकाज के छह पहलुओं को मापना था। इसके अलावा, किशोरों की कथित पेरेंटिंग शैली स्केल / APPS / को पेरेंटिंग शैलियों (उचित पेरेंटिंग शैली, सभ्य पेरेंटिंग शैली, लाड़ प्यार करने वाली पेरेंटिंग शैली और निरंकुश पेरेंटिंग शैली) के चार प्रकारों को मापने के लिए लिया गया था, जिसे एमरो (2015) द्वारा विकसित और मान्य किया गया था। परिणाम बताता है कि पुरुष और महिला का मनोवैज्ञानिक कल्याण समान है लेकिन कक्षा XII के छात्रों का मनोवैज्ञानिक कल्याण कक्षा X की तुलना में अधिक है।

परिचय : किशोरावस्था अन्वेषण और प्रयोग की अवधि है जिसमें शारीरिक परिपक्वता, परिवारों और साथियों के साथ बदलती भूमिकाओं और अधिक स्वतंत्र जीवनशैली के उद्भव के लिए समायोजन की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, यह समझाया जा सकता है कि किशोरावस्था मनुष्य के जीवन काल के विकास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण और महत्वपूर्ण चरण है। व्यक्ति के भीतर अधिकांश शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक परिवर्तन जीवन की इस अवधि के दौरान होते हैं। इसे बचपन की तुलना में अधिक संघर्ष और उथल–पुथल के समय के रूप में भी देखा जा सकता है और यह पूरी जिम्मेदारी लेने और वयस्क बनने की तैयारी का समय है। किशोरों को लंबे समय से ऐसे लोगों के समूह के रूप में माना जाता है जो अपने जीवन में किसी तरह की पहचान और अर्थ खोजने के लिए खुद की खोज कर रहे हैं। इसके अलावा, यह समझाया गया है कि किशोर स्वयं का अर्थ खोजने और जीवन में एक उद्देश्य रखने और अपनी पूरी क्षमता से काम करने के लिए संघर्ष करते हैं। इसके अलावा, किशोरावस्था तेजी से बदलाव / शारीरिक, संज्ञानात्मक और मनोसामाजिक की अवधि है जो चुनौती, तूफान और तनाव लाती है। हालांकि, कमजोरियों और कमजोरियों पर

❖ संपर्क : पीजी मनोविज्ञान विभाग, मारवाड़ी कॉलेज, रांची

ध्यान केंद्रित करने की बजाय, सकारात्मक मनोविज्ञान ने हमें किशोर विकास और अच्छी तरह से काम करने के सकारात्मक पहलुओं को देखने की सलाह दी। इस प्रकार, सामान्य रूप से कल्याण और विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक कल्याण का अध्ययन, बाल विकास अनुसंधान में एक महत्वपूर्ण उभरता हुआ क्षेत्र है। मनोवैज्ञानिक कल्याण एक ऐसी संरचना है जिसे समृद्ध और अच्छी तरह से काम करने के रूप में परिभाषित किया जाता है। हुपर्ट (2009) के अनुसार, मनोवैज्ञानिक कल्याण अच्छा महसूस करने और प्रभावी ढंग से काम करने का एक संयोजन है। हालाँकि, स्थायी कल्याण यह गारंटी नहीं देता है कि व्यक्ति हर समय अच्छा महसूस करेगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि दर्दनाक भावनाओं (जैसे निराशा, विफलता, दुःख) का अनुभव जीवन का एक सामान्य हिस्सा है। सामान्य जीवन को जारी रखने और अच्छी तरह से काम करने के लिए, बील (2011) ने उल्लेख किया कि मनुष्यों की तीन बुनियादी मनोवैज्ञानिक ज़रूरतें होती हैं (यानी क्षमता, स्वायत्तता और संबद्धता) और इन ज़रूरतों को पूरा करने से व्यक्ति वर्तमान में मनोवैज्ञानिक रूप से अच्छा होता है और भविष्य के लिए अच्छी तरह से तैयार होता है (डॉज, एट अल., 2012)। संक्षेप में, यदि कोई व्यक्ति तीन बुनियादी मनोवैज्ञानिक ज़रूरतों को पूरा करने में सक्षम है, तो उसका कल्याण और अच्छा बनना अच्छा होगा। मनोवैज्ञानिक कल्याण को भी कई आयामों वाली एक बहुआयामी अवधारणा के रूप में देखा जाता है; स्वायत्तता, पर्यावरण पर महारत, व्यक्तिगत विकास, दूसरों के साथ सकारात्मक संबंध, जीवन में उद्देश्य और आत्म–स्वीकृति (रयफ़, 1989)। इन सभी आयामों को मनोवैज्ञानिक कल्याण की परिभाषा बनाने वाले प्रमुख घटकों के रूप में माना जाता है। इस प्रकार, जो किशोर इन सभी पहलुओं में मजबूती दिखाते हैं, वे मध्यम से उच्च मनोवैज्ञानिक कल्याण की स्थिति में होंगे, जबकि जो किशोर इन क्षेत्रों में संघर्ष करते हैं, वे कम मनोवैज्ञानिक कल्याण की स्थिति में होंगे (रयफ़, 2014)। इसके अलावा, सामान्य रूप से किशोरों का कल्याण और विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक कल्याण, विभिन्न कारकों से प्रभावित हो सकता है। किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण के स्तर को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों में जैविक कारक, सामाजिक वातावरण, संस्कृति, गरीबी, शिक्षा, प्रौद्योगिकी, व्यक्तिगत और पर्यावरणीय कारक और इसी तरह के अन्य कारक शामिल हैं। इसके संबंध में, कई अध्ययनों से पता चला है कि विशेष रूप से सामाजिक वातावरण, विशेष रूप से परिवारों के भीतर संबंधों की गुणवत्ता, बच्चे–माता–पिता की बातचीत किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण को निर्धारित करने में एक प्रमुख कारक है।

परिवार वह पहला सामाजिक एजेंट है जिससे बच्चा मिलता है। इसका बच्चे के शारीरिक, मनोवैज्ञानिक–सामाजिक, मानसिक और नैतिक विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। परिवार बच्चे के स्कूल जाने से पहले शिक्षा की नींव भी रखता है और बच्चा स्कूल में जो व्यक्तित्व लेकर जाता है, वह घर और उसमें मौजूद अन्य महत्वपूर्ण लोगों द्वारा निर्धारित होता है (रास्क, एट अल, 2003)। बच्चे के जन्म के तुरंत बाद और एक सामाजिक प्राणी बन जाने के बाद, अन्य कारकों

के अलावा, परिवार की संरचना/प्रकार/और माता–पिता की बच्चे की परवरिश की शैली बच्चे के विकास और कामकाज पर अपना प्रभाव जारी रखती है (स्कॉट और वार्ड, 2005)। परिवार की संरचना/प्रकार/बच्चों के अपने जैविक माता–पिता (अखंड परिवार) के साथ रहने की व्यवस्था या जैविक माता–पिता, सौतेले माता–पिता, रिश्तेदारों और या बुजुर्ग भाई–बहनों (अखंड परिवार) में से किसी एक के साथ रहने की व्यवस्था को संदर्भित करता है। हाल ही में, बच्चों की रहने की व्यवस्था एक विश्वव्यापी सामयिक मुद्दा बन गई है जिसका सामान्य रूप से बच्चों की भलाई और विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक भलाई और उसके आयामों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक संरचना के बारे में यह परिकल्पना की गई है कि यह पारिवारिक प्रक्रियाओं, जैसे कि माता–पिता–बच्चे के रिश्ते (पालन–पोषण और पालन–पोषण की शैलियाँ) और व्यक्तिगत विशेषताओं, जैसे कि माता/पिता के मनोवैज्ञानिक कल्याण, विश्वासों और विचारों को प्रभावित करके बच्चों और किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

संक्षेप में, यह माना जाता है कि दो रहने की व्यवस्था बच्चों और किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण को अलग–अलग तरीके से प्रभावित करती है। अधिकांश प्रकार के साहित्य से पता चला है कि अखंड परिवार ने मनोवैज्ञानिक कल्याण के लिए सकारात्मक भविष्यवाणी की है जबकि अखंड परिवार ने नकारात्मक भविष्यवाणी की है। हालाँकि, पारिवारिक प्रक्रियाओं, विशेष रूप से पालन–पोषण और पालन–पोषण शैलियों को बच्चों/किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण पर पारिवारिक संरचना के प्रभावों का मध्यस्थता करने वाला माना जाता है। इसके अलावा, अधिकांश अध्ययन परिणामों ने संकेत दिया कि पारिवारिक प्रक्रियाएँ/पालन–पोषण और पालन–पोषण शैलियों का बच्चों/किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण पर पारिवारिक संरचना (गुप्ता और मेहतानी, 2015) की तुलना में अधिक प्रभाव पड़ता है। बच्चे–माता–पिता की बातचीत (पालन–पोषण की शैली) का बच्चों और/या किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पेरेंटिंग माता–पिता द्वारा बच्चों को वयस्क व्यक्तित्व, भूमिका और जिम्मेदारियों में ढालने और ढालने की प्रक्रिया है। सैद्धांतिक रूप से, यह समझाया गया है कि किशोरों के मानसिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक कल्याण का सबसे सुसंगत भविष्यवक्ता किशोरों के अपने माता–पिता के साथ संबंधों की गुणवत्ता है। विभिन्न मनो–शैक्षणिक मुद्दों में से जो पारिवारिक संरचना और पेरेंटिंग शैलियों से प्रभावित हो सकते हैं, वे हैं किशोरों की भविष्य की सोच और शैक्षणिक उपलब्धि। दूसरी ओर, शैक्षणिक उपलब्धि को प्रदर्शन परिणाम के रूप में वर्णित किया जा सकता है जो यह दर्शाता है कि किसी व्यक्ति ने किस हद तक विशिष्ट लक्ष्यों को पूरा किया है जो शिक्षण वातावरण में गतिविधियों का केंद्र थे, विशेष रूप से स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में संचयी औसत (टेलर, 2014) द्वारा मापा जाता है। कुछ अध्ययनों से पता चला है कि अखंड परिवार और आधिकारिक पेरेंटिंग से बच्चों ने भविष्य की सोच और शैक्षणिक सफलता का उच्च स्तर दिखाया। निष्कर्ष निकालने के लिए, पहले किए गए अध्ययनों से पता चला है कि पारिवारिक संरचना और पेरेंटिंग शैली दोनों किशोरों की भवि य की सोच और शैक्षणिक

उपलब्धि दोनों को प्रभावित करते हैं। बदले में, भविष्य की सोच और शैक्षणिक उपलब्धि समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण और उसके आयामों को प्रभावित करती है।

कार्यप्रणाली : वर्तमान अध्ययन के उद्देश्य

वर्तमान अध्ययन का मुख्य उद्देश्य पालन–पोषण शैलियों और शैक्षणिक उपलब्धि के संबंध में किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण की जांच करना था, जो निम्नानुसार है: –

1. जनसांख्यिकीय चर के आधार पर मनोवैज्ञानिक कल्याण अंतर का पता लगाना

2. पालन–पोषण शैलियों, शैक्षणिक उपलब्धि और किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण के बीच संबंधों की व्याख्या करना,

3. पालन–पोषण शैलियों और मनोवैज्ञानिक कल्याण के बीच संबंधों का निर्धारण करना।

नमूना : इस शोध का नमूना 120 वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय के छात्रों का था, जिन्हें रांची में स्थित विभिन्न विद्यालयों से चुना जाएगा। डेटा एकत्र करने के लिए स्तरीकृत यादृच्छिक नमूनाकरण तकनीक का उपयोग किया जाएगा। संक्षेप में, शोध ने मात्रात्मक और गुणात्मक दृष्टिकोणों के साथ क्रॉस–सेक्शनल व्याख्यात्मक शोध डिजाइन को लागू किया। अधिकांश किशोर औपचारिक स्कूलों में अपनी शिक्षा प्राप्त करते हैं, ताकि किशोरों को स्कूलों में लाना आसान हो। मनोवैज्ञानिक कल्याण पैमाना (रयफ, 1995) का उद्देश्य सकारात्मक कामकाज के छह पहलुओं को मापना था, अर्थात् आत्म–स्वीकृति, दूसरों के साथ सकारात्मक संबंध, स्वायत्तता, पर्यावरण पर महारत, जीवन में उद्देश्य और व्यक्तिगत विकास। इसके अलावा, किशोरों की कथित पेरेंटिंग स्टाइल स्केल/APPS/ को पेरेंटिंग स्टाइल (उचित पेरेंटिंग स्टाइल, सभ्य पेरेंटिंग स्टाइल, लाड़–प्यार करने वाली पेरेंटिंग स्टाइल और निरंकुश पेरेंटिंग स्टाइल) के चार प्रकारों को मापने के लिए लिया गया था, जिसे एमरो (2015) द्वारा विकसित और मान्य किया गया था।

विश्लेषण

उद्देश्य 1: उत्तरदाताओं का लिंग, ग्रेड स्तर और/या आयु

तालिका 1

उत्तरदाताओं का लिंग और ग्रेड स्तर और/या आयु वितरण (N = 120)

Gender		Grade Level		Total	
		Grade X Age (15 - 17)	Grade XII Age (18 - 22)	N	Percentage
Male	N	40	28	68	58.33
	Percentage	58.22	41.78		
Female	N	28	24	52	46.15
	Percentage	53.84	46.16		
Total	N	68	52	120	100
	Percentage	56.67	43.33		

पंद्रह से सत्रह व र्ा की आयु को दसवीं कक्षा माना गया और अठारह से बाईस व र्ा की आयु को बारहवीं कक्षा माना गया। संक्षेप में, उपरोक्त तालिका 1 से यह समझना संभव है कि उत्तरदाताओं में से अधिकांश (58.22 प्रतिशत) किशोर थे और कक्षा दस के छात्र (53.84 प्रतिशत) कक्षा दस के छात्रों की संख्या में छात्राओं (53.84) से थोड़ी अधिक संख्या में थे।

उत्तरदाताओं की पारिवारिक संरचना और परिवार का आकार

तालिका 2

उत्तरदाताओं की पारिवारिक संरचना और परिवार का आकार (N = 120)

Family Type	N	Percentage	Family Size	N	Percentage
Intact Family	74	61.67	Small	28	23.33
Non-intact family	46	38.33	Medium	52	43.33
Total	120	100.00	Large	40	33.34
			Total	120	100.00

माता–पिता की शैक्षिक स्थिति/पृष्ठभूमि

तालिका 3

माता–पिता की शैक्षिक स्थिति/पृष्ठभूमि (N = 502)

Parent's Education Status	N	Percentage
Illiterate	15	12.5
Reading & writing	35	29.12
Literate	70	58.33
Total	120	100.00

किशोरों का समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण स्तर/स्थिति

तालिका 4

किशोरों के समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण के माध्य और मानक विचलन और इसके आयाम (एन = 120)

Dimensions of Psychological well-being	Mean	Std Deviation
Autonomy	36.61	8.73
Environmental Mastery	37.64	7.23
Personal Growth	41.66	7.15
Personal Relations	38.99	6.09
Purpose of life	39.67	6.97
Self-Acceptance	39.69	6.44
Psychological Well-being	234.28	27.62

उपरोक्त तालिका 4 में प्रस्तुत आंकड़ों से यह समझना संभव है कि समग्र/सामान्य मनोवैज्ञानिक कल्याण और छह आयामों में से अधिकांश किशोरों ने मनोवैज्ञानिक कल्याण की मध्यम और उच्च स्थिति का प्रदर्शन किया। हालांकि, जब हम अपेक्षित माध्य के विरुद्ध देखे गए परिणामों की तुलना करते हैं यानी समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण के लिए 189 और छह आयामों में से प्रत्येक के लिए

31.50। लेकिन कुछ उत्तरदाता मनोवैज्ञानिक कल्याण की निम्न स्थिति में आते हैं। समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण के संदर्भ में, अधिकांश 82 (67.31 प्रतिशत) किशोर उत्तरदाताओं ने रिफ़ी के मनोवैज्ञानिक कल्याण पैमाने के माप पर अपेक्षित माध्य (189.00) से ऊपर स्कोर किया। इसके विपरीत, प्रतिभागी किशोरों में से लगभग 38 (32.69 प्रतिशत) ने अपेक्षित माध्य से नीचे स्कोर किया।

अधिक जानकारी के लिए, नीचे दी गई तालिका 5 में अपेक्षित औसत से नीचे और ऊपर पुरुषों और महिलाओं की आवृत्तियों और प्रतिशत प्रस्तुत किए गए हैं।

तालिका 5

किशोरों की समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण स्थिति का सारांश (N = 120)

Gender	N = above the expected level		N = below the expected level	
	Mean	Percentage	N	Percentage
Male	51	75.00	17	25.00
Female	31	59.61	21	40.38
Total	82	67.31	38	32.69

रयफ के माप द्वारा मापी गई मनोवैज्ञानिक भलाई/पीडब्लूबी/ के लिए अपेक्षित माध्य 189 है और छह आयामों/स्वायत्तता, पर्यावरण महारत, व्यक्तिगत विकास, दूसरों के साथ व्यक्तिगत संबंध, जीवन में उद्देश्य और आत्म–स्वीकृति/ के लिए अपेक्षित माध्य 31.5 है।

उद्देश्य 2: मनोवैज्ञानिक भलाई और लिंग

तालिका 6

टी–परीक्षण परिणामों का सारांश, मनोवैज्ञानिक भलाई पर लिंग और ग्रेड तुलना (N = 120)

Independent Variable		N	Mean	SD	t	Sign.
Gender	Male	68	235.69	26.84	1.27	No significance difference
	Female	52	232.45	28.50		
Grade Level	X Level	68	227.28	29.06	6.67	Significance difference
	XII Level	52	243.17	22.81		

ग्राफ 1

वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के मनोवैज्ञानिक कल्याण के औसत स्कोर का ग्राफिकल प्रतिनिधित्व (N = 120)

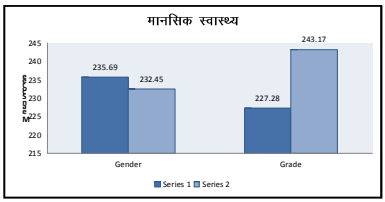

तालिका 6 से पता चलता है कि

➢ मनोवैज्ञानिक कल्याण पैमाने पर दो लिंगों, पुरु ा (M=235.69) और महिला (M=232.45) के माध्य के बीच बहुत कम अंतर है और ज का मान किसी भी स्तर पर महत्वपूर्ण नहीं है। इसका मतलब है कि पुरु ा और महिला का मनोवैज्ञानिक कल्याण समान है।

➢ मनोवैज्ञानिक कल्याण पैमाने पर दो ग्रेड, कक्षा X (M=227. 28) और कक्षा XII (M=243.17) के माध्य के बीच अंतर है और ज का मान 0. 01 स्तर पर महत्वपूर्ण है। इसका मतलब है कि कक्षा XII के छात्रों का मनोवैज्ञानिक कल्याण कक्षा X की तुलना में अधिक है।

उद्देश्य 3: पेरेंटिंग शैलियों और समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण के बीच संबंध

चार पेरेंटिंग और समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण के बीच संबंधों की जाँच आंशिक सहसंबंध विश्लेषण का उपयोग करके की गई।

तालिका 7

अंतर–सहसंबंध विश्लेषण का सारांश; समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण और पेरेंटिंग शैलियाँ (N = 120)

Variables	Psychological Well-being	Reasonable Parenting	Decent Parenting Style	Pampering Parenting	Autocrat Parenting
Psychological Well-being	1				
Reasonable Parenting	0.274**	1			
Decent Parenting Style	0.178**	0.502**	1		
Pampering Parenting	-0.096*	0.223**	0.169**	1	
Autocrat Parenting	-0.188**	-0.346**	-0.124*	0.127*	1

तालिका 7 से पता चलता है कि

1. समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण (आश्रित चर) उचित पालन–पोषण शैली और सभ्य पालन–पोषण शैली के साथ सकारात्मक और महत्वपूर्ण रूप से सहसंबद्ध था। इससे पता चला कि जैसे–जैसे किशोरों ने उचित पालन–पोषण शैली और सभ्य पालन–पोषण शैली को समझा, किशोरों का मनोवैज्ञानिक कल्याण बढ़ा।

2. समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण (आश्रित चर) लाड़–प्यार और निरंकुश पालन–पोषण शैली के साथ नकारात्मक और महत्वपूर्ण सहसंबंध दिखाया गया। इससे संकेत मिलता है कि जैसे–जैसे लाड–प्यार और निरंकुश पालन–पोषण शैली का प्रयोग किया गया, समग्र मनोवैज्ञानिक कल्याण की स्थिति में कमी आई।

निष्कर्ष : किशोर किसी भी देश का भवि य होते हैं। इस प्रकार, सामान्य रूप से कल्याण और विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक कल्याण पर अध्ययन किशोरों, परिवारों, स्कूलों और शिक्षकों, नीति निर्माताओं और कार्यान्वयनकर्ताओं और मनोवैज्ञानिकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, परामर्शदाताओं और स्वास्थ्य पेशेवरों जैसे पेशेवरों के लिए मनोवैज्ञानिक कल्याण और इसे प्रभावित करने वाले संबंधित कारकों के बारे में उचित और वैध जानकारी के प्रावधान के माध्यम से बहुत महत्वपूर्ण हैं। अध्ययन माता–पिता, शिक्षकों, परामर्शदाताओं और अन्य पेशेवरों को

अपने बच्चों और छात्रों के मनोवैज्ञानिक कल्याण की स्थिति को समझने में मदद कर सकता है और इन निकायों को परिवार संरचना के साथ मजबूत और सकारात्मक संबंध और बातचीत स्थापित करने के लिए सूचित करेगा। परिणाम माता–पिता को अपने बच्चों की बेहतरी के लिए उचित पालन–पोषण को लागू करने के लिए सूचित कर सकते हैं। यह नीति निर्माताओं और कार्यान्वयनकर्ताओं को उचित निवारक और हस्तक्षेप रणनीतियों को डिजाइन और कार्यान्वित करने में मदद करेगा जो किशोरों के मनोवैज्ञानिक कल्याण को बढ़ाएगा। इसलिए, अध्ययन के परिणामों से, किशोर अपने भविष्य के सोच व्यवहार की खोज के माध्यम से निकट और दूर के भविष्य में लक्ष्यों की पहचान करने में मदद करके अपने भविष्य के मनोवैज्ञानिक कल्याण के इन आयामों को बढ़ाने में सक्षम हो सकते हैं। इसके अलावा, अध्ययन से किशोरों को विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कल्याण आयामों को मजबूत करने में मदद मिलेगी और व्यक्तिगत शक्तियों का निर्माण करने से उन्हें शैक्षणिक उपलब्धि और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य जैसे अन्य क्षेत्रों में अधिक इष्टतम कार्य करने में मदद मिल सकती है।

संदर्भः

ह्यूपर्ट, एफ. ए. (2009)। मनोवैज्ञानिक कल्याणः इसके कारणों और परिणामों के बारे में साक्ष्य। जर्नल ऑफ एप्लाइड साइकोलॉजीः स्वास्थ्य और कल्याण, 1(2), 137–164।

बील, एस. (2011)। भविष्य की दिशा का विकासः आधार और संबंधित निर्माण। डॉक्टरेट थीसिस। नेब्रास्का विश्वविद्यालय

डॉज, आर., एट अल., (2012)। कल्याण को परिभाषित करने की चुनौतीः इंटरनेशनल जर्नल ऑफ वेल–बीइंग, 2 (3), 222–255

रयफ सी.डी. (1989)। खुशी ही सब कुछ है, या है? मनोवैज्ञानिक कल्याण के अर्थ पर अन्वेषण। जे पर्स सोक साइकोल 57: 1069–1081।

रयफ, सी. (2014)। मनोवैज्ञानिक कल्याण पर फिर से विचारः यूडेमोनिया के विज्ञान और अभ्यास में प्रगति। मनोचिकित्सा और मनोदैहिक विज्ञान, 83(1), 10–28.

रास्क, के., कुर्की, पी.ए., पाविलैनेन, ई. और लैप्पाला, पी. (2003)। किशोर व्यक्तिपरक कल्याण और पारिवारिक गतिशीलता। स्कैंडिनेवियन जर्नल ऑफ केयरिंग साइंस; 17; 129–138.

स्कॉट, जे. और वार्ड, एच. (2005)। बच्चों, परिवारों और समुदायों के कल्याण की सुरक्षा और संवर्धन। जेसिका किंग्सले पब्लिशर्स लंदन और फिलाडेल्फिया

गुप्ता, एम. और मेहतानी, डी. (2015)। किशोरों में पालन–पोषण शैली और मनोवैज्ञानिक कल्याणः एक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य। जेनिथ इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी रिसर्च, 5 (2), 74–84

टेलर, जी., जुंगर्ट, टी., मैग्यू, जी. ए., शैटके, के., डेडिक, एच., रोसेनफील्ड, एस. और कोएस्टने आर, आर. (2014)। समय के साथ स्कूल की उपलब्धि की भविष्यवाणी करने के लिए एक आत्मनिर्णय सिद्धांत दृष्टिकोणः आंतरिक प्रेरणा की अनूठी भूमिका। समकालीन शैक्षिक मनोविज्ञान, 39(4), 342–358

■

बौद्ध संघ में भिक्षु–जीवन

पल्लवी चौधरी *

बौद्ध धर्म के इतिहास में संघ की महत्वपूर्ण भूमिका है। वास्तव में यदि देखा जाय तो इस धर्म की प्रारम्भिक सफलता में संघ का ही योगदान था। इस संघ में भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म के प्रचार– प्रसार के लिए महनीय कार्य किए। भिक्षु बहुत ही नियम और संयम से रहते थे। संघ में भिक्षुओं के लिए प्रायः समान आहार–व्यवहार का निर्धारण किया गया था। परन्तु विशेष परिस्थितियों में श्रामणेर, स्थविर, नवक, आवासिक, आगन्तुक, गमिक, आरण्यक आदि भिक्षुओं के जीवन में स्थान–स्थान पर भेद भी परिलक्षित होता है। इन भिक्षुओं के भोजन, वस्त्र, आवास एवं आवास–व्यवहार तथा सरल समृद्ध जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास इस शोध पत्र में किया गया है।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि बौद्ध श्रामणेरों का जीवन बहुत हद तक ब्राह्मण ब्रह्मचारियों की भांति था। 10 शिक्षापद बौद्ध श्रामणेरों के जीवन के आवश्यक अंग थे। इसमें उनको हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, असत्य भाषण, मद्यपान, गरिष्ठ भोजन, नृत्य आदि जैसे चित्त को चंचल करने वाली वस्तुओं, ऊँची तथा महार्घ शैय्या के प्रयोग, मालागन्ध के विलेपन तथा रूपरजत के ग्रहण से विरति का अभ्यास करना होता था। इसके लिए उन्हें त्रिचीवर धारण करना, मुण्डित केश होना आवश्यक था। कर्तव्य से च्युत होने पर उन्हें पूर्ण दीक्षा के अयोग्य माना जाता था।

जिन भिक्षुओं को उपसम्पदा प्राप्त हो जाती थी, उन्हें आवासिक, अरण्यवासी तथा रूग्ण नामक कोटि में रखना समीचीन होगा। नवक भिक्षुओं का जीवन ज्ञानी स्थविर भिक्षुओं की अपेक्षा कठोर था। भौक्ष्य भिक्षुओं को उपाध्याय (आचार्य) के निर्देशन में रहना पड़ता था। यद्यपि भौक्ष्यों की भी जीवनचर्या बहुत हद तक श्रामणेरों के समान थी, तथापि वह संघ का अधिकार प्राप्त भिक्षु होता था। प्रत्येक संघीय कार्य के सम्पादन के समय उसकी उपस्थिति अनिवार्य होती थी। पालि ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भिक्षुओं के लिए नग्न रहना, कुश, चीवर, मृगछाल आदि पहनना मना था। यहाँ तक कि वे हरे, पीले जैसे आकर्षक रंगों के कपड़े भी नहीं पहन सकते थे।[1] ध्यातव्य है कि बौद्ध भिक्षुओं को पट धारण करने के विधान, उन्हें सुसज्जित करने के लिए नहीं अपितु सर्दी–गर्मी, मच्छर–मक्खी,

* संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बिच्छू–साँप आदि से बचाव तथा शर्म–लाज ढकने की दृष्टि से किया गया था।[2] उनके लिए त्रिचीवर–अन्तरवासक, उत्तरासंग (चादर) और संघाटी (दोहरी चादर) जैसे वस्त्रों को धारण करने का निर्देश किया गया था।[3] कुछ स्थलों पर यह उल्लेख हुआ है कि भिक्षु भिक्षाटन के समय अन्तरवासक आदि को बदल सकते थे। प्रारम्भिक अवस्था के बौद्ध भिक्षु लोगों द्वारा परित्याग किये गये वस्त्रों तथा श्मशान से प्राप्त वस्त्रों का प्रयोग करते थे, किन्तु संघ की विकसित अवस्था में श्रद्धालुओं द्वारा प्रदत्त वस्त्र को ग्रहण करने की उन्हें अनुमति मिल गई। बौद्ध ध र्म की प्रतिष्ठा में वृद्धि होने के साथ ही संघ के लाभ और सत्कार में भी अभिवृद्धि हुई, फलतः भिक्षुओं को अनेक प्रकार के चीवर प्राप्त होने लगे। इसके बावजूद भिक्षुओं को मात्र क्षौम, कपास, कौशेय कम्बल, साण, भंग या इनके मिश्रण से बने वस्त्रों को धारण करने की ही अनुमति थी। भिक्षुओं को स्वयं चीवर सीलने तथा उसके फटने पर रफू, टाँके जैसे कर्मों की अनुमति दी गई थी। इन कार्यों हेतु भिक्षुओं को सत्थक (कैंची), मिज़ाव, नमतक और सूई आदि रखने के लिए अनुमति मिली हुई थी।[4] प्रायः सभी भिक्षुओं को सिंह, व्याघ्र, चीता आदि के चर्म के प्रयोग की अनुमति नहीं थी, किन्तु प्रत्यन्त जनपद के भिक्षुओं को आवश्यकता के अनुसार चर्म एवं पर्याय चीवर धारण करने की स्वीकृति मिली हुई थी।

संघ की प्रतिष्ठा में शनैः शनैः वृद्धि होने लगी, जिससे भिक्षुओं को वस्त्रादि को प्राप्त करने में सुविधा प्राप्त होने लगी। परन्तु भिक्षु अधिक मात्रा में चीवर वस्त्र दान स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकते थे। सिद्धान्ततः चीवर का मालिक संघ होता था तथा उसके रख रखाव एवं वितरण आदि के लिए चीवर प्रतिग्राहक, भाजक, निदहक जैसे अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी।[5] बाद में भिक्षुओं के निमित्त विकल्प वस्त्रों का विधान किया गया। इनके लिए वर्षा–साटिका, मुख प्रक्षालन–वस्त्र तथा भिक्षुणियों को उदक साटी के उपयोग की अनुमति मिली हुई थी।

प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षुओं को जूता पहनने की अनुमति नहीं प्रदान की गयी थी। परन्तु बाद ने में बुद्ध देखा कि उनको बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, तो इन्होंने जूता पहनने की अनुमति दे दिया। सामान्यतया एक तल्ले जूते पहनने का विधान किया गया था, किन्तु लोगों द्वारा परित्यक्त बहुतल्ले जूते भी प्रयोग में लाये जा सकते थे। पशुओं के चमड़े, कांस्य तथा सोने से निर्मित जूते को पहनने से मना किया गया था। कमल, ताड़, हिताल, बांस से बने जूते एवं काष्ठ से निर्मित खड़ाऊ को पहनने की अनुमति नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग इसलिए वर्जित था, क्योंकि इससे हिंसा को बढ़ावा मिलता साथ ही ध्यान भंग की भी स्थिति उत्पन्न हो जाती। यदि उपाध्याय या आचार्य नंगे पैर होते थे, तो नवक भिक्षुओं को भी नंगे पैर होना पड़ता था। सामान्य अवस्था में गाँव में जूता पहनकर भिक्षु नहीं जा सकते थे। इसके अनन्तर रात में मसाल, दीपक और दण्ड के साथ जूता धारण करने की अनुमति भिक्षुओं को मिल गई। इनको छाता के प्रयोग की भी अनुमति मिल गई। कालान्तर में इन सभी वस्तुओं का प्रयोग भिक्षु सामान्य रूप से करने लगे। राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि

जूता, छाता का प्रयोग बहुत कुछ विलासिता का प्रतीक था।[6] वे दण्डसत्थक नामक शस्त्र भी धारण करते थे।

बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को भिक्षा पात्र भी रखना पड़ता था, क्योंकि बिना पात्र के वे दीक्षा नहीं प्राप्त कर सकते थे।[7] ये पात्र सामान्यतः लोहे या मिट्टी के होते थे, जिसकी सुरक्षार्थ राँगे या शीशे की बन गेडुरी और पात्र को बांधने के लिए बन्धन–सुतली की अनुमति प्रदान की गई थी। खोपड़े, तूंबे या घड़े के बने पात्रों तथा स्वर्ण, कांस्य आदि महार्घ धातुओं से निर्मित पात्रों को ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी गई। यही नहीं यदि किसी भिक्षु–भिक्षुणी के पास पात्र है, तो ऐसी दशा में उसे दूसरे पात्र को ग्रहण करने की अनुमति नहीं थी। पांच छिद्र से कम होने पर न तो पात्र बदला जा सकता था और न 10 दिन से अधिक अतिरेक पात्र रखा जा सकता था।[8] वास्तविक रूप में पात्र का मालिक संघ होता था। अधिक पात्र होने पर संघ को सौंप दिया जाता था।

ब्राह्मण संन्यासियों से भिन्न बौद्ध भिक्षुओं को सिर मुंड़ाना पड़ता था अर्थात् इनके सिर पर बाल नहीं रहते थे। प्रव्रज्यजा और उपसम्पदा सम्बन्धी केश को कटवाने के लिए संघ का आदेश लेना पड़ता था। सामान्यतया दो माह या दो इन्च के बाल रखे जा सकते थे, परन्तु इन बालों में कंघी करने का विधान नहीं था।[9] साधारणतया छूरे से ही बाल मुड़ाया जाता था। भिक्षुओं को परस्पर बाल एवं नाखून काटने तथा इससे सम्बन्धित उपकरण रखने का निर्देश था।[10] भिक्षुणियों का भी सिर मुण्डित होता था तथा इनके सिर मुण्डन एवं नाखून को काटने का कार्य आवश्यकतानुसार करने की भिक्षु को अनुमति थी।

सम्भवतः भिक्षुओं को आपस में बाल को उच्छेद करने एवं इससे सम्बन्धित उपकरण को रखने की अनुमति इसलिए दी गई होगी, ताकि वे स्वावलम्बी बन सकें। ध्यानार्थ है कि संसार को त्याग करने के बावजूद बुद्ध यथासम्भव गृहियों के इच्छानुसार कार्य करने के हिमायती थे। इसलिए बौद्ध भिक्षुओं की शारीरिक शुद्धता के मूल में जनता की मनोभावना को भी स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। भिक्षुओं को सामान्यतया पाक्षिक स्नान की अनुमति थी, परन्तु प्रत्यन्त जनपदों में वे रोजाना स्नान कर सकते थे।[11] यदि चीवर वस्त्र गन्दा हो जाता था तो उसे धुलवाने की अनुमति थी। वे पैर को धो–पोछकर सोने जाते थे तथा विस्तर पर बैठने के पूर्व जूता निकाल देते थे।[12] वे कान और दांत की सफाई भी करते थे।

ध्यातव्य है कि भिक्षुओं की परिशुद्धि से आशय शारीरिक सुन्दरता को बढ़ावा देने से नहीं था। भिक्षुणियों के लिए भी शौक–शृंगार दण्डनीय था। सामान्य अवस्था मंक वे जनसामान्य की भांति अट्टान, गन्धव्वहत्य, कुरूविन्दक, सुत्त, मल्लक, अकतमल्लक आदि का प्रयोग नहीं कर सकते थे।भिक्षा से प्राप्त अन्न पर भिक्षुओं का जीवन निर्वाह होता था, जिसके लिए भिक्षाटन का विधान किया गया था। विशिष्ट अर्थ में इसे धर्मयात्रा से सम्बद्ध किया जाता है। भिक्षुओं के दिनचर्या का यह एक आवश्यक अंग जबकि था। भिक्षा मध्याह्न–पूर्व मांगी जाती थी। भिक्षाटन के लिए भिक्षु अकेले या अपने शिष्य के साथ जाता था,

भिक्षुणियाँ प्रायः समूह में ही जाती थीं। यदा–कदा ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिसमें भिक्षाटन हेतु वे अकेले भी जाती थीं।[13] गरीब उपासक तथा संघ का लाभ–सत्कार न करने वाले उपासकों के यहाँ से भिक्षा प्राप्त करना निषिद्ध था। भिक्षु न तो किसी के गृह पर अनावश्यक रूकते और न ही भिक्षा देने वाली स्त्री का मुँह देखने का प्रयास करते। प्रारम्भिक अवस्था के भिक्षु, जहाँ से भिक्षा ग्रहण करते वहीं के आस–पास स्थल पर भिक्षान्न को पकाकर खाते थे। लेकिन बाद में वे आवासों में नियम एवं संयमपूर्वक रहकर भोजन करते थे।

भिक्षु आमन्त्रण भोज पर भी जाते थे, जो मध्याह्न पूर्व होता था। आमन्त्रित भिक्षुओं को निर्देश था कि काल की सूचना मिलने पर समुचित रीति से वस्त्र आदि से सज्जित होकर स्थविरों की भांति संयम और विनम्रता के साथ घर में प्रवेश करें। स्थविरों का यह कर्तव्य निर्धारित था कि वे स्वादिष्ट पदार्थ को सबको देने का निर्देश दें और सबको मिल जाने पर ही भोजन प्रारम्भ करें। पात्र के अनुरूप भिक्षा के रूप में प्राप्त अन्न को ग्रहण करना और सत्कारपूर्वक खाना प्रशंसा के योग्य माना जाता था।

आकस्मिक स्थिति में भिक्षु स्वयं भोजन बना खा सकते थे, किन्तु सामान्य स्थिति में इस प्रकार की छूट की व्यवस्था नहीं थी। प्रारम्भ में भिक्षुओं को आराम भोजन में सम्मिलित होने की छूट नहीं थीं, किन्तु कालान्तर में जब आरामों में अग्निशाला और अन्न भण्डारण की अनुमति मिल गई, तो आरामों में सम्मिलित भोजन ग्रहण करने की परिपाटी शनैः शनैरू शुरू हुई जो विकसित होती गई। संघ के द्वारा घी, तेल, मधु आदि होने पर भिक्षुओं में आवश्यकतानुसार एकाधिक वितरित कर दिया जाता था।[14] भिक्षुओं को सामान्यतः दिन में एक ही बार भोजन करने की अनुमति थी। परन्तु जब क्रमशः लाभ–सत्कार में वृद्धि हुई, तो भोजन सम्बन्धी नियम भी शिथिल हो गये। भिक्षुओं के नियम जीविका पराश्रयिता को ध्यान में रखकर बनते–बिगड़ते रहे और प्रायः उन सभी पदार्थों की अनुमति मिलती रही, जो उन्हें श्रद्धालुओं द्वारा प्राप्त होते थे। इन पदार्थों में चावल, दाल, घी आदि की गणना की जा सकती है। बौद्ध भिक्षु मधुपिण्डक भी खा सकते थे। भिक्षुओं को लगभग सभी खाद्यान्न फलों को खाने की अनुमति थी। जंगल में गिरे फल को या दाता के अभाव में गिरे फल को स्वयं भी ग्रहण किया जा सकता था। भिक्षुओं के लिए अनाज को छोड़ सभी फलों के रस, ढाक के पत्ते को छोड़ सभी पत्तों के रस, महुए के फुल को छोड़ सभी फूलों के रस तथा गन्ने के रस को पीने का विधान किया गया था। पालि बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु यदा–कदा मांस–पूरित भोजन भी ग्रहण करते थे।[15] यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं को अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित मांस खाने की अनुमति थी, तथापि वे पूछताछ करके ही मांस को ग्रहण कर सकते थे।[16] भिक्षुओं के लिए मनुष्य, हाथी, घोड़ा, सिंह, बाघ, नाग आदि का मांस भक्षण निषिद्ध था।[17]

प्राचीन बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से परिज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षुओं की दिनचर्या में जगने से होकर सोने तक के समस्त क्रिया–कलाप सम्मिलित थे। भिक्षुओं की रात तीन यामों में विभक्त थी। प्रथम एवं अंतिम याम आध्यात्मचर्या

से सम्बन्धित था। मध्यम याम सोने का समय थी। इसके अतिरिक्त भिक्षुओं को चीवर बनाने एवं विहारों की मरम्मत आदि कराने का विधान था। बौद्ध संघ की समुचित व्यवस्था के लिए अनेक भिक्षुओं को अपना समय धर्मचर्या और चिन्तन से विरत कर प्रशासनिक कार्यों में भी लगाना पड़ता था। किन्तु बौद्ध भिक्षुओं के जीवन का चरम उद्देश्य निवार्ण प्राप्त करना था। निर्वाण प्राप्ति के लिए सामान्यतया उन्हें अपने प्रत्येक कार्य के लिए सतर्क रहना तथा 37 बोधिपक्षीय धर्मो का पालन भी करना होता था। गणकमोग्गलान सुत्त से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षुओं को आध्यात्म साधन के रूप में प्रातिमोक्ष नियमों का पालन करना, दुष्कृत्यों के विनाश एवं सद्कृत्यों के विकास के प्रति उद्योगशील रहना, अपने प्रत्येक कार्यो के लिए जागरूक रहना और विकृति के विनाश के पश्चात् चारों ध्यानों का अभ्यास करना होता था। इसके साथ ही उन्हें योगाभ्यास भी करना होता था।[18] सभी बौद्ध भिक्षुओं की रूचियाँ एक जैसी नहीं थीं। कतिपय ऐसे भिक्षु थे, जो धर्मसंगायन में ही समय व्यतीत कर देते थे। कुछ भिक्षु कण्ठस्थ धर्मो का एक दूसरे को उपदेश देते थे। भिक्षुओं को शरीर के प्रति अशुभ भाव, लोक के प्रति वैराग्य भाव तथा संस्कारों के प्रति अनीत्य भाव रखना विहित था। कुछ भिक्षु शरीर के प्रति अशुभ भावना से प्रोत्साहित होकर आत्महत्या भी कर लेते थे।[19] ध्यातव्य है कि तत्कालीन अन्य श्रमण परिब्राजकों से बौद्ध भिक्षुओं का शान्तिमय गरिमामय व्यक्तित्व कुछ भिन्न था। प्रसेनजित जैसे राजाओं के सद्धर्म के प्रति आकर्षण के कारणों में भिक्षुओं का आनन्दमय, हृष्ट–पुष्ट, परम प्रसन्न, शान्त, निर्भय एवं ओजस्वी व्यक्तित्व महत्वपूर्ण था। बुद्ध ने भिक्षुओं के इस प्रकार के आकर्षक व्यक्तित्व के पीछे उनके भूत भविष्य के प्रति विचारणा से विरत हो मात्र वर्तमान में जीने की चाह को स्वीकार किया था।[20]

बौद्ध भिक्षुओं पर ब्राह्मण संन्यासियों द्वारा कभी–कभी वृशल और जैनी मांसभक्षी होने का आक्षेप भी लगाया जाता था। आजीवक संन्यासी भी उनपर आक्षेप लगाते थे। इसके बावजूद बौद्ध भिक्षुओं का जीवन तत्कालीन श्रमण परिव्राजकों की अपेक्षा सरल था। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं की कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए विनय के नियमों में बहुत कुछ सशोधन–परिवर्धन किया। उन्होंने अपने बाद के भिक्षुओं को आवश्यकता के अनुरूप क्षुद्रातिछुद्र नियमों में संशोधन परिवर्धन करने की छूट भी दे दिया। ध्यातव्य है कि बुद्ध का विश्वास शारीरिक साधना एवं बाह्याडम्बर में नहीं था और न ही वे मात्र शारीरिक तपस्या और बाह्याडम्बर में लीन भिक्षु को श्रमण–ब्राह्मण मानने को तैयार थे। वस्तुतः बुद्ध मध्यम मार्गी विचारधारा के थे, इसीलिए बौद्ध संघ में भिक्षुओं में कायाक्लेश के स्थान पर मानसिक अभ्यास पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके अन्तर्गत आन्तरिक परिशुद्धता को विशेष महत्व दिया गया था।

संदर्भ

1. विनय महावग्ग, 8.28–8.20
2. दीघ निकाय, पासादिका सुत्त

3. विनय महावग्ग 1.13, उपासक, चन्द्रिका सिंह 1975, डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, पृ. 88–91
4. विनय महावग्ग, 8.14 एवं चुल्लवग्ग 5.11
5. विनय महावग्ग, 8.13.6–8.6
6. श्री राहुल, वालपोल 1956, हिस्ट्री ऑव बुद्धिज्म इन सीलोन (दी अनुराधापुर पीरियड, थर्ड सेन्चुरी बी.सी. टेंथ सेन्चुरी ए.डी.), कोलम्बो, पृ. 181
7. विनय महावग्ग, 1.70
8. विनय सुत्तविभंग, निसग्गिय पाचित्तिय 22 एवं 24
9. विनय चुल्लवग्ग, 5.2.3
10. वही, 5.27.3
11. विनय महावग्ग, 5.13.13
12. विनय चुल्लवग्ग, 6.20
13. इलियट, सर चार्ल्स 1962, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जिल्द 1, लंदन, पृ. 244–45
14. विनय चुल्लवग्ग 6.31.3
15. दीघ निकाय, 'महापरिनिब्बान सुत्त'
16. विनय महावग्ग, 6.23.8–9 तथा 6.13.14
17. वही, 6.23.10
18. मज्झिम निकाय, 'गणकभोग्गलान सुत्त'
19. संयुक्त निकाय 4.23 तथा गोधिक सुत्त और वैशाली सुत्त
20. श्री राहुल 1956, पृ.–204

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण
e-mail : shivnarayan22@yahoo.com